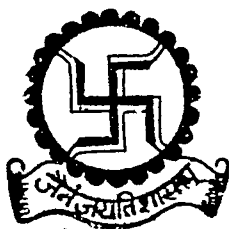
प्रकाशक :
श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ
ब्यावर (राजस्थान)



मुद्रक :
श्रीकृष्ण भारद्वाज द्वारा
जनता आर्ट प्रेस
ब्यावर (राजस्थान)

प्रकाशकीय निवेदन

ब्यावर नगर का सौभाग्य था कि जैनभूषण पंजाब-केसरी मंत्री मुनि श्री प्रेमचन्दजी म० का इस वर्ष यहाँ चौमासा हुआ। आपके वचनामृत का पान करने का संघ को सुअवसर मिला। आपके व्याख्यानो की एक बडी विशेषता यह है कि वे रोचक होने के साथ ही साथ तात्त्विक भी होते है। आप सरल भाषा मे गंभीर तत्त्वज्ञान समझाने मे अत्यन्त कुशल है। व्याख्यानो की इस विशेषता की ओर संघ का ध्यान आकृष्ट हुआ और विचार किया गया कि अगर इन्हे लिपिबद्ध करा लिया जाय और प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय तो अन्य जिज्ञासुओ को भी लाभ मिल सकेगा और उन्हे स्थायी रूप प्राप्त हो जाएगा। तदनुसार व्यवस्था की गई।

इसी व्यवस्था के अनुसार 'प्रेमसुधा' के नाम से यह तृतीय भाग ब्यावर-संघ की ओर से प्रकाशित किया जा रहा है। प्रेम-सुधा के दो भाग पहले दूसरी जगहो से छप चुके है। इस तीसरे भाग मे ब्यावर-चातुर्मास के सिर्फ १२ व्याख्यान आये है। शेष व्याख्यानो को भी सम्पादित करा कर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है।

आशा है पाठकगण इन महत्त्वपूर्ण व्याख्यानो से पूर्ण लाभ उठाएँगे। पाठको की ओर से हमे जितना सहयोग प्राप्त होगा, उतनी ही जल्दी आगे के व्याख्यानो को प्रकाशित करने मे सुगमता होगी।

पंजाबकेसरीजी महाराज के प्रति हम अतीव आभारी हैं, जिन्होने अनेक कष्ट उठाकर और ब्यावर मे विराज कर हमे ज्ञानामृत का पान कराया। वह अर्थसहायक भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिनकी बहुमूल्य सहायता से आगे के भाग प्रकाशित करने की योजना बनाई गई है। उनकी नामावली अगले भागों में प्रकाशित की जायगी।

निवेदक :—

अध्यक्ष
कन्हैयालालजी मुथा

मंत्री.
चिमनसिंहजी लोढ़ा

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ,
ब्यावर (राजस्थान)

आमुख

आत्म-विकास और जीवन-प्रगति का सुन्दर एव सरल मार्ग है—सन्त-समागम, ऋषियो, महर्षियो एवं महापुरुषो द्वारा उपदिष्ट वाणी का श्रवण और चिन्तन-मनन तथा अनुभवी पुरुषो द्वारा बताए हुए मार्ग पर प्रगति करना, गमन करना एवं उसके लिए प्रयत्नशील रहना। जो ऋषि महर्षि एवं महापुरुष—इस नश्वर एवं नाशवान्, भौतिकवाद से भरी-पूरी अज्ञान अन्धकार और विकारों से परिप्लावित संसार--अटवी मे आध्यात्मिक ज्ञानालोक का साक्षात्कार पा चुके है, उनके अन्तर हृदय से प्रस्फुटित उद्गार और स्नेह रस भरित एवं प्रवाहित वचनामृत, वर्तमान युग के साधक के लिए ज्योति-स्तम्भ रूप है और उनसे हम अपने जीवन-निर्माण एवं जीवन-उन्नति मे बहुमूल्य लाभ प्राप्त कर सकते है।

प्राणी-जगत् के विकास मे सन्तों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। उनके दिव्य प्रकाश से, दिव्य ज्योति से प्रकाशमान होकर अनन्त--प्राणियो ने अपना हित साधा है और साधते जा रहे है। मनुष्य मे मनुष्यत्व, इन्सानियत--अमरत्व और ईश्वरत्व का साक्षात्कार कराने वाले ऋषि, महर्षि एवं सन्त-माहण ही होते हैं। सन्त-हृदय उदार, विशाल एव विराट होता है। उनके जीवन में जाति, देश, रंग, वर्ग और सम्प्रदाय भेद की भित्तिका नहीं होती

है और न घृणित तथा संकीर्ण मनोभावना ही होती है। उनके अन्तर मानस मे समस्त प्राणी-जगत् के हित की दिव्य भव्य भावना लहराती रहती है और वे प्रतिक्षण स्व और परहित साधना में संलग्न रहते है ।

स्वर्गीय १००८ बाल ब्रह्मचारी, श्री वृद्धिचन्द्रजी म० सा० के सुशिष्य, प्रखर वक्ता जैन-भूपण पंजाब केसरी, प्रान्त मन्त्री, पं० रत्न मुनि श्री प्रेमचन्द्रजी म० मा० उन सन्तो में से हैं, जिन्होने अपना जीवन आत्म-साधना तथा अध्यात्म मार्ग की शोध में लगा रखा है ।

आपश्री की व्याख्यान शैली और बोलने की कला अपने ढंग की निराली ही है, भापा जोशीली है। वे सिह की तरह गर्जना करते है, तभी तो 'शेरे पंजाब' से विख्यात है। गहन से गहन मुख्यतया सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, जड, चैतन्य आदि तात्त्विक विपयो को सुगमता से जन-जन के अन्तर-हृदय में ठसा देने की आपमे अद्भुत शक्ति है। विपय-प्रतिपादन करने की आपमे ऐसी खूबी है कि साधारण लगने वाले विपयको तथा कथानको को इतना सार्थक एवं रोचक बनाकर कहते हैं कि श्रोताओं के हृदय-पटल पर सीधा असर होता है और वे त्याग-प्रत्याख्यान की ओर कदम उठाते हैं ।

मन्त्रीजी म० सा० के प्रवचन सर्वजनोपयोगी होते हैं । बाल-वृद्ध स्त्री-पुरुप सभी जन उनके उपदेशों से पूरा-पूरा लाभ उठाते

हैं। उनके उपदेशो मे किसी साम्प्रदायिक भेद को स्थान नहीं है, और वे सत्य के पुजारी है। आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी. गुजराती, गुरुमुखी, उर्दू आदि भापाओ तथा अनेक विषयो मे अच्छी जानकारी रखते है। इन प्रवचनो एवं अन्य कृतियो से अर्थात्—'सत्यासत्य निर्णय, संग्रहीत प्रेम कुसुमावली, प्रेम सन्देश, मजहब और धर्म, प्रेम वाणी, आध्यात्मिक प्रवचन (गुजराती) आदि से पाठकगण को पता लग ही जाएगा।

प्रेम-सुधा इस महान् सन्त के अन्तर हृदय से प्रस्फुटित वाणी का सकलन है। इस पुस्तक का प्रथम भाग रतलाम (मालवा) से एवं द्वितीय भाग जोधपुर (मारवाड़) से प्रकाशित होकर पाठको के हाथ मे पहुँच चुके है और भव्य प्राणियो को सही मार्ग दिखा रहे है। यह तृतीय भाग भी अपना विशेप महत्त्व लेकर जनता के सामने आया है।

तीसरे भाग का सम्पादन, भूतपूर्व जैन गुरुकुल, ब्यावर के प्रधानाध्यापक, वर्तमान मे श्री कुन्दन जैन सिद्धान्त शाला के प्राध्यापक, सुविख्यात पं० श्री शोभाचन्द्रजी, भारिल्ल 'न्यायतीर्थ, साहित्य मत्री, ने किया है। मंत्रीजी म० सा० के व्याख्यान अजमेर निवासी श्रीमान् धर्मपालजी मेहता 'काव्यकोविद' ने तन, मन एवं सतत प्रयत्न से संकेत लिपि मे लिपिबद्ध किए थे। आपका एवं सम्पादकजी का प्रयत्न सराहनीय है। उन लिपिबद्ध व्याख्यानो मे से यह तृतीय भाग श्री वर्धमान स्था० जैन श्रावक संघ, ब्यावर की तरफ से प्रकाशित होकर धर्म प्रेमी जिज्ञासुओं के कर

कमलो में पहुँच रहा है। आगे के भाग भी शीघ्र प्रकाशित होंगे, ऐसी संभावना है।

आशा है सुज्ञ पाठक वृन्द इस महान् सन्त की वाणी को समझ कर एवं कार्य का रूप देकर अपने जीवन को आत्म-विकास पथ पर आरूढ़ करके, शाश्वत मोक्ष सुख को प्राप्त करने के लिये अग्रसर होंगे। बस यही अन्तर हृदय की शुभ कामना है।

सुज्ञेषु किं बहुना !

श्री कुन्दन जैन सिद्धान्त शाला, ब्यावर
ता० २९-१०-५६

—भानुऋषि
जैन सिद्धान्ताचार्य (द्वि. व)



तिलक-जयन्ती



वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्य नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुलं, वीरस्य घोर तपः,
वीरे श्रीधृतिकीर्त्तिकान्तिनिचयः, हे वीर! भद्रं दिश॥

उपस्थित भद्र पुरुषो तथा बहिनो!

व्याख्यान मे आजकल दर्शन का विषय चल रहा है। जैन शासन मे सम्यग्दर्शन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है और उसका इतना विस्तृत विवेचन किया गया है कि वह सब यदि आपके समक्ष रखने की इच्छा की जाय तो सारे चौमासे मे भी पूरा न हो। मगर मै इतने विस्तार मे नही जाना चाहता।

मै तो संक्षेप मे ही आपके जीवन से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाली बातो पर प्रकाश डालूँगा। यहाँ दर्शन का मतलब है—श्रद्धा, विश्वास, यकीन। आप जानते है कि किसी भी महान् कार्य को सिद्ध करने के लिए जो प्रचड प्रयास किया जाता है, उसकी सफलता तत्संबंधी दृढ़ विश्वास पर अवलंबित रहती है। आपने अपना जो ध्येय निश्चय किया है, उसके प्रति आपके अन्त.करण मे निश्चल विश्वास होना चाहिए। मानसिक दृढ़ता, संकल्प की सबलता, कार्यसिद्धि के लिए अनिवार्य है। अगर आपको अपने प्रयास पर विश्वास नहीं है, अपनी शक्ति पर आप सदेह करते है, अपने प्रति आप श्रद्धाशील नहीं है, तो आपका मन डावांडोल रहेगा। मन की यह अस्थिरता आपको उत्साह-हीन बना देगी और आपके वीर्य मे उल्लास प्रकट नहीं होने देगी। नतीजा यह होगा कि ढिलमिल चित्त से किया गया कार्य सफल नहीं होगा।

इसके विपरीत, यदि आपको अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा है और किये जाने वाले कार्य की श्रेष्ठता पर आपको सन्देह नहीं है, तो आपकी शक्ति बढ जाएगी, आपकी क्षमता मे कई गुणी वृद्धि हो जायगी और आप अपने लक्ष्य तक पहुँचने मे सफल हो सकेंगे। यही कारण है कि क्या जैनधर्म मे और क्या दूसरे धर्मों मे, सर्वत्र श्रद्धा का माहात्म्य स्वीकार किया गया है।

आर्य देश में चार पुरुपार्थ माने गये है—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन चारो में मोक्ष पुरुपार्थ ही मुख्य है और ज्ञानी जनो का सम्पूर्ण प्रयत्न मोक्ष के लिए ही होता है। मोक्ष की साधना के लिए सर्वप्रथम यदि किसी गुण की आवश्यकता है तो वह श्रद्धा ही है। शास्त्रकार कहते है:—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न होंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥

अर्थात्—श्रद्धाविहीन पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। और ज्ञान के अभाव मे चारित्र-गुण नहीं हो सकता। चारित्र गुण से रहित पुरुष मोक्ष नहीं पा सकता और मोक्ष अर्थात् बन्धनो से छुटकारा पाये बिना पूर्ण शान्ति–निर्वाण नहीं हो सकता।

यह गाथा श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन की है। इसमे भगवान् महावीर ने खुले शब्दो मे घोषणा की है कि जिन्हे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हुई है, जिनकी आत्मा सम्यक्त्व रूपी अलौकिक अलकार से अलंकृत नहीं हुई है, वे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करने मे कदापि समर्थ नहीं हो सकते। श्रद्धा के बिना ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। कहा भी है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम् ।

अर्थात्—श्रद्धाशील पुरुष ही ज्ञान पाता है।

यद्यपि जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ सम्यग्ज्ञान है और जहाँ सम्यग्ज्ञान है वहाँ सम्यग्दर्शन है। दोनो युगपद्भावी है। तथापि दोनो मे कार्य-कारणभाव भी है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है। सम्यग्दर्शन का सूर्य उदित होते ही सम्यग्ज्ञान का दिव्य प्रकाश फैल जाता है। इस प्रकार दर्शन कारण है। इसी कारण दोनो मे से यहाँ सम्यग्दर्शन को प्रधानता दी गई है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे भी ज्ञान होता है, परन्तु वह सम्यग्ज्ञान नहीं, मिथ्याज्ञान कहलाता है। सम्यग्दर्शन से आत्मा मे एक ऐसी निर्मलता का प्रादुर्भाव होता है कि पहले का मिथ्याज्ञान भी सम्यग्ज्ञान के रूप मे परिणत हो जाता है।

यह सहज ही समझा जा सकता है कि जिस मनुष्य की दृष्टि विषम है, उसका ज्ञान भी विषम ही होगा और जिसकी दृष्टि ठीक होगी, उसी का ज्ञान ठीक होगा। बात यह है कि विषम दृष्टि वाला पुरुष, अपनी विपरीत कल्पना से अपने ज्ञान पर भी विषमता का रंग चढ़ाता रहता है। उसकी सूझ-बूझ विपरीत दिशा की ओर ही चलती है। इसी कारण समीचीन श्रद्धा अर्थात् शुद्ध दृष्टि के अभाव मे समीचीन ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता।

इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान के अभाव मे चारित्र रूप गुण की प्राप्ति नहीं होती। मिथ्याज्ञानी भले ही कठोर से कठोर तपश्चर्या करे, देहदमन करे और हवा खाकर रहे, मगर जब तक उसका लक्ष्य सही नहीं है, दृष्टि सम्यक् नहीं है और इस कारण ज्ञान भी मिथ्या है, तब तक उसे सम्यक्चारित्र की प्राप्ति न होगी। उसकी क्रिया मुक्ति का कारण नहीं होगी। ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया मे बड़ा अन्तर होता है। देखिए:—

कोटि जन्म तप तपे ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्ति तें सहज टरें ते॥

अज्ञानी जीव कोटि-कोटि जन्म तक तपस्या करके जितने कर्मों की अकामनिर्जरा कर पाता है, ज्ञानी पुरुष मन, वचन, काय की गुप्ति के द्वारा क्षण भर में सहज ही उतने कर्मों का क्षय कर डालता है। यह है सम्यग्ज्ञान की महिमा।

अभिप्राय यह हुआ कि सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान नहीं और सम्यग्ज्ञान के विना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥

चारित्र के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान का होना आवश्यक है, किन्तु जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वहाँ चारित्र की भजना है, अर्थात् चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान स्वतन्त्र है—अकेले भी रह सकते है और साथियो के साथ भी रह सकते है। सम्यक्चारित्र रेल के डिब्बे के समान है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान एंजिन के समान है। एंजिन डिब्बो के बिना भी चल सकता है, किन्तु डिब्बे एंजिन के बिना नही चल सकते। चतुर्थ गुणस्थान मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो होता है, पर चारित्र नहीं होता, पॉचवे गुणस्थान मे एक देश चारित्र होता है। सकल चारित्र छठे गुणस्थान से आरम्भ होता है।

जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यक्चारित्र का योग मिलता है, तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इन तीनो को रत्नत्रय कहते है, अर्थात् यह तीनो रत्न है। जैसे रत्नों से किसी भी मनुष्य की दरिद्रता दूर हो जाती है, उसी प्रकार इन तीन लोकोत्तर रत्नो से आत्मा की दरिद्रता दूर हो जाती है।

मोक्ष रूप कार्य के लिए अनुरूप ही कारण होना चाहिए। अनुरूप कारण के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती। किसी भी लक्ष्य पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पहले अपना लक्ष्य निश्चित कर ले, उस तक पहुॅचने का मार्ग जान ले और फिर उस दिशा मे कदम बढ़ावे। जो अपने लक्ष्य को ही निश्चित नही कर पाया है, या लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग नही जानता है, वह उसकी तरफ चलने का प्रयत्न ही नही करेगा

और यदि चल पड़ेगा तो लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकेगा। इसी प्रकार कोई अपने लक्ष्य को जानता हो, उसके पास पहुँचने का मार्ग भी जानता हो, किन्तु कदम न बढावे तो भी उसका लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि लक्ष्य का निश्चय, लक्ष्य का ज्ञान और लक्ष्य तक पहुँचने की क्रिया, इन तीनों का समन्वय होने पर ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं।

हाँ, यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि मोक्ष किसी स्थानविशेष को नहीं कहते। यद्यपि मुक्तात्मा लोक के अग्रभाग पर स्थित रहते है, तथापि वह लोकाग्र भाग मोक्ष नहीं है। 'सकल करम से रहित अवस्था, सो शिव थिर सुखकारी।' अर्थात् समस्त कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष कहलाती है। मोक्ष आत्मा का स्वरूप है, स्थान नहीं। उस स्थान को मोक्ष माना जायगा तो लोक के अग्रभाग मे रहने वाले एकेन्द्रिय जीव भी मुक्त कहलाने लगेंगे, क्योंकि जहाँ अनन्त सिद्ध भगवान् हैं, वहाँ अनन्त एकेन्द्रिय जीव भी विद्यमान रहते है।

कुछ लोगों का कहना है कि अकेले ज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इनसे विपरीत दूसरे अकेली क्रिया से ही मुक्ति मानते है। परन्तु जैनधर्म इन दोनों एकान्तों को स्वीकार न करता हुआ ज्ञान और क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष मानता है। कोई बीमार अगर नीरोग होना चाहता है तो उसे नीरोगता उत्पन्न करने वाली औषध को जानना भी आवश्यक है और उस औषध का सेवन करना भी आवश्यक है। औषध को जान लेने मात्र से बीमारी नहीं मिट सकती। इसी प्रकार बिना जाने अंटसंट किसी भी औषध का सेवन करने से भी बीमारी दूर नहीं होती।

तो जो बात शारीरिक रोग के विषय मे है, वही बात आत्मिक रोग के विपय मे भी है। आत्मिक रोगो का निवारण करने के लिए भी ज्ञान और क्रिया—दोनो की अनिवार्य आवश्यकता है।

यहाँ ज्ञान और क्रिया—दोनो को मोक्ष का कारण बतलाया है। इसका यह आशय न समझ लीजिए कि सम्यग्दर्शन को छोड़ दिया गया है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहचर है, अतः एक के कहने से दूसरे का भी कथन हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान-शब्द से ही दोनो का ग्रहण होता है। वास्तव मे सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की तरफ एक भी कदम नहीं बढ़ सकता। ठीक ही कहा है—

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम्।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥

अर्थात्—चारित्र और ज्ञान न हो, अकेला दर्शन हो तो भी वह प्रशसनीय है, किन्तु मिथ्यात्व के विप से दूपित ज्ञान और चारित्र प्रशंसनीय नहीं है।

सज्जनो! सम्यग्दर्शन को इतना महत्त्व क्यो दिया गया है? इस प्रश्न पर आपको भली-भाति विचार करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे एक आचार्य ने बहुत अच्छा स्पष्टीकरण दिया है:-

अन्तर्मुहूर्त्तमपि यः समुपास्य जन्तु.,
सम्यक्त्वरत्नममल विजहाति सद्य।
बम्भ्रम्यते भवपथे सुचिरं न कोऽपि,
तद् बिभ्रतश्चिरतरं किमुदीरयामः ?

सम्यक्त्व तीन प्रकार से होता है। अनन्तानुबंधी कषाय और दर्शनमोहनीय के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियो के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता है और कुछ प्रकृतियो के क्षय तथा कुछ के उपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन तीन प्रकार के सम्यग्दर्शनो मे से औपशमिक सम्यक्त्व की स्थिति सब से कम है। वह अन्तमुहूर्त्त तक ही रहता है। एक अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक रह ही नही सकता। इसी औपशमिक सम्यक्त्व को ध्यान में रख कर आचार्य कहते हैं—

जो जीव एक अन्तर्मुहूर्त्त जितने अल्प काल तक भी, निर्मल सम्यक्त्व रूपी रत्न को धारण करके त्याग देता है, वह भी बहुत लम्बे समय तक संसार-मार्ग मे भ्रमण नहीं करता है। एक अन्तर्मुहूर्त्त का सम्यक्त्व भी उस जीव के अनन्त जन्म-मरणो का अन्त कर देता है। उसका भवभ्रमण सीमित हो जाता है, अर्थात् वह जीव परीतससार हो जाता है। उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है और वह देशोन अर्धपुद्गल परावर्त्तन काल के अन्दर-अन्दर अवश्य ही मोक्ष पा लेता है। जब एक अन्तर्मुहूर्त्त तक रहने वाले सम्यक्त्व मे भी इतना अद्भुत प्रभाव है, ऐसा अपूर्व चमत्कार है, तो फिर एक बार उत्पन्न होकर कभी नष्ट न होने वाले क्षायिक सम्यक्त्व मे और ६६ सागरोपम तक रहने वाले क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मे कितना चमत्कार न होगा! उस चमत्कार का कहना ही क्या है! वह वाणी के अगोचर है।

थोड़ी-सी देर के लिए आत्मा में उत्पन्न हुई वह दिव्य ज्योति मनुष्य का बेड़ा पार कर देती है। वह आत्मा मे ऐसा कुछ सस्कार डाल जाती है कि जिससे आत्मा, सम्यक्त्व से हीन होने की अवस्था में भी असीमित दीर्घ संसारी नहीं रहता और

अर्ध पुद्गल परावर्त्तन काल मे पुनः अपने स्वरूप की ओर आकृष्ट होकर सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

सम्यक्त्व का यह मोहात्म्य मामूली नही है। इसीलिए कहा गया है कि भवभ्रमण करने वाले जीव को सुरेन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्र आदि का वैभव मिल जाना सरल है, मगर समस्त दुःखो के क्षय का कारण, परम पावन सम्यक्त्व प्राप्त हो जाना कठिन है!

सम्यग्दर्शन के प्रादुर्भाव से आत्मा में एक प्रकार की विशुद्धता आजाती है। आत्मा को अनिर्वचनीय शान्ति का आभास होने लगता है। उसकी दृष्टि की विषमता दूर हो जाती है और समभाव की जागृति हो जाती है। दृष्टि की विषमता दूर होने पर सम्यग्दृष्टि के लिए सभी विषम भाव सम बन जाते हैं। शास्त्र मे बतलाया गया है कि सम्यग्दृष्टि अगर मिथ्या शास्त्रो को पढ़ता है तो वे भी उसके लिए सम्यक् श्रुत हो जाते है और मिथ्यादृष्टि के लिए. सम्यक्श्रुत भी मिथ्या श्रुत बन जाते हैं। आप विचार करे कि यह कैसे होता है? शास्त्र वही हैं, उनके पाठ वही के वही है, शब्दो मे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता, फिर मिथ्यादृष्टि के लिए वह मिथ्या और सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यक् कैसे हो जाते है? इस प्रश्न पर आप गहराई से विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि सम्यग्दर्शन आत्मा मे किस प्रकार का विवेक उत्पन्न कर देता है। सम्यग्दृष्टि मे जो समभावना जागृत हो जाती है, उसी का यह प्रभाव है कि वह विषम को भी सम रूप मे परिणत कर लेता है।

आत्मा मे विषम भाव के साथ समभाव का संघर्ष चल रहा है। विपमभाव कर्मजनित हैं और समभाव स्वभाविक है। अतएव दूसरे शब्दो मे यो कहना चाहिए कि कर्मों का और आत्मा का निरन्तर युद्ध चल रहा है।

कल्पना कीजिए, दो पहलवान है और दोनो समान बलवान् है। उनमे से एक लड़ने की कला जानता है और दूसरा उस कला से अनभिज्ञ है। ऐसी स्थिति मे कला कुशल पहलवान कला हीन को पछाड़ देता है। इसी प्रकार कर्म के भी अनन्त पर्याय है और जीव के भी अनन्त पर्याय है। दोनो मे अनन्त शक्ति है, मगर कर्म वर्गणाओ में लड़ने का ज्ञान नहीं है, क्यो कि वह जड़ है। आत्मा रूपी पहलवान मे शक्ति भी है और कला कुशलता भी है। जड़ लड़ता है, पर लड़ना नहीं जानता, जीव लड़ता भी है और लड़ना जानता भी है; क्यो कि वह चैतन्य स्वरूप है। यही कारण है कि अन्त मे जीव, कर्मों को पछाड़ देता है। कर्म हार जाते है और जीव जीत जाता है जीव और कर्म के इस महान् संघर्ष मे पहली बार जीव को जो विजय प्राप्त होती है, सम्यग्दर्शन उसी विजय का फल है। इस प्रथम विजय से जीव की शक्ति अत्यधिक बढ़ जाती है और कर्म की जड़ें हिल जाती है। यह विजय प्राप्त हो जाने के बाद जीव को अपनी असाधारण शक्ति पर विश्वास हो जाता है, अपनी क्षमता पर भरोसा हो जाता है और वह समझ जाता है कि मुझमें अनन्त सामर्थ्य है और अपने कर्म शत्रुओ पर पूर्ण विजय प्राप्त करना मेरे लिए असंभव नहीं है। इस प्रकार अपने स्वरूप को एवं अपनी शक्ति को, समझ लेने और उस पर विश्वास हो जाने से आत्मा का उत्साह और वीर्य अनेक गुणा बढ जाता है। यह अपने स्वरूप और सामर्थ्य को समझ लेना ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के महत्व का यही रहस्य है।

भद्र पुरुषो ! किसी भी संघर्ष मे विजय पाने के लिए सब से पहली शर्त यही है कि मनुष्य अपनी शक्ति पर भरोसा करे, श्रद्धा करे। आत्म-विश्वास का बल सफलता के लिए अतीव उपयोगी होता है। जिसे अपने ऊपर विश्वास नही, जो अपनी शक्ति के प्रति नास्तिक है, शंकाग्रस्त चित्त से, अधूरे मन से और डांवाडोल दिल से किसी कार्य मे प्रवृत्ति करता है, समझ लीजिए कि वह अपनी असफलता को आमंत्रित करता है। ऐसा व्यक्ति किसी महान् कार्य को सिद्ध नहीं कर सकता। अविश्वास उसमे साहस का सचार नहीं होने देता, स्फूर्त्ति नहीं पैदा होने देता। जो अपनी भावना से आप ही पराजित है, वह विजयी कैसे बन सकता है ? जिसमे अपने प्रति हीनता का भाव भरा है, वह व्यक्ति महान् कार्य करके कोई उल्लेखनीय महत्ता का पात्र कदापि नहीं बन सकता।

सम्यग्दर्शन आत्मा के प्रति हीनता की भावना को दूर करता है, आत्म विश्वास की लहर दौडा देता है और आत्मा की अनन्त शक्ति की प्रतीति करा देता है। इससे आत्मा आध्यात्मिक युद्ध को जीतने मे समर्थ बन जाता है और अन्त मे विजयी होकर ही रहता है।

यह सिद्धान्त जैसे लोकोत्तर विजय पर लागू होता है, उसी प्रकार लौकिकविजय पर भी लागू होता है। संघर्ष चाहे आध्यात्मिक हो, राष्ट्रीय हो अथवा सामाजिक, उसमे भाग लेने वालो के मन मे अपनी शक्ति के प्रति श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। जो राष्ट्र और जो समाज हीनता की भावना का शिकार हो जाता है, उसका उत्थान होना सरल नहीं। अतएव जैसे मुमुक्षु साधक मे सफलता के लिए आत्मविश्वास होना अनि-

वार्य है, उसी प्रकार अपने उत्थान के लिए राष्ट्र और समाज मे भी।

दीर्घ दृष्टि और विचारशील राष्ट्र नेता और समाज नेता जब राष्ट्र या समाज के उत्थान के लिये कार्यक्षेत्र मे आता है, तब सब से पहले वह उस राष्ट्र या समाज मे आत्मविश्वास की भावना जगाता है। यह भावना जितनी सुदृढ़ होती है, उतना ही अधिक राष्ट्र एवं समाज का उत्थान होता है।

आज लोकमान्य तिलक की जयन्ती का दिवस है। उनका नाम बालगंगाधर था, किन्तु वे तिलक के नाम से ही प्रख्यात थे। तिलक ने इस सिद्धान्त को भली-भांति हृदयंगम कर लिया था। अतएव उन्होंने अपने जीवन मे इस बात के लिए भरसक प्रयत्न किया कि इस देश मे आत्मश्रद्धा उत्पन्न हो और हीनता की भावना निकल जाय।

सज्जनो! आपको सुविदित ही है कि भारतवर्ष सदियो से पराधीन था। अंगरेज इस देश पर शासन करते थे। उन्होंने अपनी सत्ता को स्थिर रखने के लिए सभी उपाय काम में लिए। उन्होंने भारत की विभिन्न जातियो में और विभिन्न वर्गों में भेद-भाव की दीवारे चौड़ी करने का प्रयत्न किया और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भारतवासियो में हीनता की भावना भी उत्पन्न की। और भी अनेक उपाय किये। परिणाम यह हुआ कि इस देश के निवासी अपने पुरातन गौरव को भूल गये और यह भूल गये कि जब पश्चिमी देश असभ्य और असंस्कृत अवस्था में, पशुओं की भांति जीवन यापन करते थे, उस समय भी हमारे देश की संस्कृति अत्यन्त उन्नत थी। हम ज्ञान, आध्यात्म, दर्शन, समाज-

रचना-एव कलाकौशल आदि के क्षेत्रो मे बहुत अधिक विकास कर चुके है। पराधीनता के अभिशाप के कारण आर्य लोगो को यह स्मरण नही रहा कि हमारे देश मे हजारो महान् तत्वद्रष्टा हुए है और हमारा धर्म और दर्शन विश्व मे सर्वोत्कृष्ट है। यही नही, पराधीनता के बावजूद आज भी हमारी सस्कृति पश्चिमी संस्कृति से अनेक बातो मे उन्नत और सुखद है। भारत की संस्कृति का मूलाधार आध्यात्मिकता है और इस आधार पर ही खड़ी हुई सभ्यता मानव जाति का परित्राण कर सकती है और विश्व को सुखशान्ति प्रदान कर सकती है।

भारतवासी अपने इस महत्त्व को भूल गये और भौतिक वाद के आधार पर खड़ी हुई पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध मे चौंधिया गये। अंगरेजो ने ऐसे सम्मोहन मन्त्र का प्रयोग किया कि जिससे भारतवासी अपने को हीन, तुच्छ और निकम्मा समझे और अंगरेजो को अपने से अधिक सभ्य, सुसंस्कारी, बुद्धिमान् मानने लगे। ऐसे समय मे सर्व प्रथम आवश्यकता इस बात की थी कि राष्ट्र में आत्मविश्वास की भावना जागृत हो। तिलकजी ने इस तथ्य को हृदयगम किया और आत्मविश्वास एवं आत्मचेतना की लहर पैदा कर दी।

इस लौकिक महापुरुप तिलक का जन्म महाराष्ट्र मे ईसवीय सन् १८५६ की २३ जौलाई को हुआ था। किसी भी महापुरुष की जीवनी को आप गौर से देखेगे तो प्रतीत होगा कि उसके जीवन को जो महत्त्व मिला है, वह सघर्षो, दुःखो और अभावों की देन है। इस नियम के अपवाद विरले ही मिल सकते है। वास्तव में सुख की अपेक्षा दुःख जीवन-विकास मे अधिक सहायक होता है। संघर्षों से शक्ति की वृद्धि होती है और जीवन निखर उठता

है। तिलक का बाल्यकाल भी अभाव से परिपूर्ण रहा। जब आप दस वर्ष के कोमलवयस्क बालक थे, तभी आपको माता की ममतामयी गोदी से बिछुड जाना पड़ा। जब हाई स्कूल की परीक्षा दे रहे थे, उसी समय आपके पिता भी अपनी छत्र-छाया को संवरण करके परलोक चले गये। इस प्रकार उनका बाल्यकाल सुखमय नहीं बीता। मगर बाल-गगाधर की आत्मा पूर्वजन्म के कुछ विशिष्ट संस्कार लेकर आई थी। अतएव वह आने वाली समस्त आपत्तियो को दृढ़ता और धीरता के साथ सहन करते गये और ऊपर ही ऊपर की ओर बढते गये। जैसे आग में तपने से सुवर्ण का रंग फीका नहीं पड़ता, बल्कि अधिकाधिक-निखरता जाता है, अधिक तेजोमय बनता जाता है, उसी प्रकार तिलक भी ज्यो-ज्यो आपत्तियो मे पड़ते गये, अधिकाधिक तेजस्वी बनते चले गये। जिनके जीवन मे क्रान्ति के बीज छिपे होते हैं, वे बाधाओं से नहीं घबराते। वे आने वाली बाधाओ का डट कर मुकाबिला करते हैं और कभी-कभी वे बाधाओं को स्वय आमंत्रण देकर बुलाते है। उन पर विजय प्राप्त करते हैं और अपने पराक्रम की धार को पैनी बनाते है।

लोकमान्य तिलक इसी कोटि के महापुरुषो में से एक थे। छह-छह वर्षों का कठोर कारावास उनकी देशभक्ति को कुँठित नहीं कर सका, उनकी स्वाधीनता प्राप्ति की लगन को मिटा नहीं सका। यही नहीं, इससे उन्हे अधिक प्रेरणा मिली। शेर को पिंजरे मे बन्द कर दिया जाय तो भी उसका गरजना बन्द नहीं होता। उसकी वह गर्जना भी लोगों की छाती दहला देती है। तिलक भारत के शेर थे। उनकी गर्जना से ब्रिटिश हुकूमत, जो उस समय विश्व मे प्रथम नम्बर की गिनी जाती थी, घबराती

थी और उनके नाम से थर्राती थी। वास्तव मे वह बड़े ही निर्भीक नेता थे।

महान् पुरुषो के विषय मे कहा गया है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ।।

अर्थात्—विशिष्ट पुरुषो के चित्त एक तरफ तो वज्र से भी कठोर होते है और दूसरी तरफ फूल से भी अधिक कोमल होते हैं। उनके चित्त की थाह मिलना कठिन होता है।

तिलक अपने प्रति कठोर होते हुए भी देश की गरीब और अभावग्रस्त जनता के प्रति अति कोमल थे। देश की दशा देख कर वह रोते थे। उनका कहना था कि देश मे किसी भी चीज की कमी नहीं है। फिर भी यहाँ के लोगो को न पेट भर रोटी मिलती है और न तन ढांकने को पूरा कपड़ा। इन अभावो को दूर करने का एक ही तरीका है—गुलामी का अन्त करना। जब तक देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन नहीं हो जाता, तब तक उसका आर्थिक विकास भी नहीं होने का और जनता मे फैली हुई गरीबी और भुखमरी का भी अन्त नहीं होने का। यह सब सोच कर उन्होने भारत को एक नया मन्त्र प्रदान किया—'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' इस मन्त्र ने सहस्रो नही, कोटि-कोटि जनता की नसो मे एक अपूर्व विद्युत् भर दी।

तिलक यह मन्त्र देकर ही नहीं रह गये। उन्होने भारत की स्वाधीनता को अपना एक मात्र ध्येय बनाया और इसी ध्येय की प्राप्ति के लिए रात दिन प्रयत्नशील रहने लगे।

है। तिलक का बाल्यकाल भी अभाव से परिपूर्ण रहा। जब आप दस वर्ष के कोमलवयस्क बालक थे, तभी आपको माता की ममतामयी गोदी से बिछुड जाना पड़ा। जब हाई स्कूल की परीक्षा दे रहे थे, उसी समय आपके पिता भी अपनी छत्र-छाया को संवरण करके परलोक चले गये। इस प्रकार उनका बाल्य-काल सुखमय नहीं बीता। मगर बाल-गगाधर की आत्मा पूर्व-जन्म के कुछ विशिष्ट संस्कार लेकर आई थी। अतएव वह आने वाली समस्त आपत्तियो को दृढ़ता और धीरता के साथ सहन करते गये और ऊपर ही ऊपर की ओर बढ़ते गये। जैसे आग में तपने से सुवर्ण का रंग फीका नहीं पड़ता, बल्कि अधि-काधिक-निखरता जाता है, अधिक तेजोमय बनता जाता है, उसी प्रकार तिलक भी ज्यो-ज्यो आपत्तियो मे पड़ते गये, अधिकाधिक तेजस्वी बनते चले गये। जिनके जीवन में क्रान्ति के बीज छिपे होते है, वे बाधाओं से नही घबराते। वे आने वाली बाधाओ का डट कर मुकाबिला करते है और कभी-कभी वे बाधाओ को स्वय आमंत्रण देकर बुलाते है। उन पर विजय प्राप्त करते हैं और अपने पराक्रम की धार को पैनी बनाते है।

लोकमान्य तिलक इसी कोटि के महापुरुषो मे से एक थे। छह-छह वर्षों का कठोर कारावास उनकी देशभक्ति को कुँठित नहीं कर सका, उनकी स्वाधीनता प्राप्ति की लगन को मिटा नहीं सका। यही नहीं, इससे उन्हे अधिक प्रेरणा मिली। शेर को पिंजरे मे बन्द कर दिया जाय तो भी उसका गरजना बन्द नहीं होता। उसकी वह गर्जना भी लोगो की छाती दहला देती है। तिलक भारत के शेर थे। उनकी गर्जना से ब्रिटिश हुकूमत, जो उस समय विश्व मे प्रथम नम्बर की गिनी जाती थी, घबराती

थी और उनके नाम से थर्राती थी। वास्तव मे वह बड़े ही निर्भीक नेता थे।

महान् पुरुषो के विषय मे कहा गया है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ॥

अर्थात्—विशिष्ट पुरुषो के चित्त एक तरफ तो वज्र से भी कठोर होते है और दूसरी तरफ फूल से भी अधिक कोमल होते है। उनके चित्त की थाह मिलना कठिन होता है।

तिलक अपने प्रति कठोर होते हुए भी देश की गरीब और अभावग्रस्त जनता के प्रति अति कोमल थे। देश की दशा देख कर वह रोते थे। उनका कहना था कि देश मे किसी भी चीज की कमी नही है। फिर भी यहाँ के लोगो को न पेट भर रोटी मिलती है और न तन ढांकने को पूरा कपडा। इन अभावो को दूर करने का एक ही तरीका है—गुलामी का अन्त करना। जब तक देश राजनीतिक दृष्टि से स्वाधीन नहीं हो जाता, तब तक उसका आर्थिक विकास भी नहीं होने का और जनता मे फैली हुई गरीबी और भुखमरी का भी अन्त नहीं होने का। यह सब सोच कर उन्होने भारत को एक नया मन्त्र प्रदान किया—'स्वाधीनता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' इस मन्त्र ने सहस्रो नही, कोटि-कोटि जनता की नसो मे एक अपूर्व विद्युत् भर दी।

तिलक यह मन्त्र देकर ही नही रह गये। उन्होने भारत की स्वाधीनता को अपना एक मात्र ध्येय बनाया और इसी ध्येय की प्राप्ति के लिए रात दिन प्रयत्नशील रहने लगे।

सज्जनो ! लोकमान्य ने अपने जीवन मे जो कार्य किया है, उसका असली महत्त्व समझने के लिए आपको उस समय की परिस्थिति समझ लेनी होगी। उस समय आज के समान वाणी-स्वातंत्र्य प्राप्त नही था। लोगो की जीभ पर ताले डाले हुए थे। अंगरेजो की बडी धाक थी और अंगरेजी हुकूमत का विरोध करना पर्वत से सिर टकराने से कम नही था। उस समय देश-स्वाधीनता की बात करना भयंकर राजद्रोह था, भारी गुनाह था। ऐसा करने वालो को कठोर से कठोर यातनाए भागनी पडती थीं। उस समय भी कांग्रेस मौजूद थी और उसमें बड़े-बड़े शिक्षित लोग सम्मिलित थे, मगर वह देश भक्तो के बजाय राज भक्तों की एक संस्था कही जा सकती थी, जिसका काम शासको से आरजू-मिन्नत करना था, प्रार्थना करना था और अपने दैन्य को प्रकट करना था। संक्षेप मे, वह एक भिन्न ही प्रकार का युग था उस युग मे तिलक ने जिस तेजस्विता का परिचय दिया, वास्तव मे वह स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। आर्यावर्त्त के उस वरिष्ठ सपूत ने युग की गति को एक नवीन दिशा मे मोड़ दिया। इसी कारण वह गरम दल के जन्मदाता के रूप मे प्रख्यात हुए।

लोकमान्य तिलक कोरे राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, बल्कि उच्चकोटि के विद्वान् भी थे, साहित्यकार भी थे। उनके द्वारा स्वतन्त्र रूप से लिखित 'गीता रहस्य' साहित्य का एक मूल्यवान् रत्न माना जाता है। उन्होने भारतीय संस्कृति के मर्म को पहचाना था। वे धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। धर्म के प्रति उनके मन में गाढ़ी आस्था थी। यद्यपि वे वैदिक धर्म के अनुयायी थे, तथापि उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति नही थी। उन्होने असाम्प्रदायिक उदार

भाव से विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया था। एक प्रसंग पर उन्होने कहा था कि वैदिक धर्म पर अहिंसा की छाप लगाने वाला जैन-धर्म है। उनकी यह उक्ति बतलाती है कि वे किसी भी धर्म की विशिष्टता को स्वीकार करने मे संकोच नही करते थे।

आज के अधिकांश राजनीतिज्ञ या तो धर्म के प्रति उपेक्षा का भाव रखते है या धर्म के विरोधी होते है। वे पश्चिम के ढ़ंग पर भारत का उत्थान करना चाहते है। ऐसे लोगो के लिए तिलक की जीवनी अत्यन्त उपयोगी है। वास्तव मे धर्म के उदार सिद्धान्तो के आधार पर ही सच्चा उत्थान सम्भव है। धर्म से विमुख होकर कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र स्थायी शान्ति नही पा सकता। धर्मभाव ही सब प्रकार के विकास का प्राण है। लोक-मान्य तिलक की जयन्ती मनाते समय यह बात भूल नहीं जाना चाहिए।

भद्र पुरुषो! आज आप तिलक की जयन्ती मनाने के लिए एकत्र हुए है, किन्तु उनकी जयन्ती मनाने की सार्थकता तभी है, जब आप उनके जीवन से देश-भक्ति, धर्मनिष्ठा, सेवा, निस्पृ-हता, निर्भीकता और कष्टसहिष्णुता के सबक सीखे और उनके समान बनने का प्रयत्न करे।

तिलक द्वारा आरम्भ किया हुआ मिशन पूरा हो गया है। हजारो देशभक्त आजादी हासिल करने के लिए फॉसी के तख्तो पर चढ़े, गोलियो के शिकार हुए और कारागार की यातनाएं भुगत कर मौत के ग्रास बने। बहुतो ने बहुत प्रकार के त्याग किये। इस सब का उद्देश्य देश को सुखी बनाना था। इसी उद्देश्य से इतने कष्ट सहन किये गये थे। किन्तु आज कुछ और ही

नजारा देखा जा रहा है। स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों मे पहले देशभक्ति के दर्शन होते थे, वहाँ आज प्रायः स्वार्थसाधना की प्रधानता ही दिखाई देती है। सभी स्वार्थपरायण हो चुके हैं, यह तो नही कहा जा सकता, किन्तु सभी प्रान्तो मे आज इस प्रकार की आवाज सुनाई दे रही है। जो लोग आज अपनी पिछली देश सेवा के बदले में स्वार्थ साधना करना चाहते है और इसके लिए देश और संस्था के हित की भी परवाह नही करते, उनके लिए यही कहा जायगा कि वे गांधीजी के नाम से प्रसिद्ध सफेद टोपी को कलंकित कर रहे हैं। वे अपनी देश सेवा की तपस्या से भ्रष्ट हो गये है।

आप सोचते होगे कि हमारी कटु आलोचना की जा रही है, परन्तु आलोचना कटु होने पर भी यदि सत्य है तो उस पर आपको विचार करना चाहिए और जिन दोषो के कारण आलोचना हो रही है, उनका परित्याग कर देना चाहिए। आज देश के पुनर्निर्माण का गुरुतर कार्य आपके सामने है। यह कार्य स्वाधीनता प्राप्ति से कम मूल्य का नहीं है। यदि सही तौर पर यह कार्य न हो सका तो स्वाधीनता निष्फल हो जायगी और देश की जनता मे निराशा की भावना फैल जायगी। अतएव स्वाधीनता को सफल बनाने के लिए देश में आज बहुत कुछ करना है। यह तभी हो सकता है जब कि शासक दल ईमानदार हो। मैं कहना चाहता हूँ कि आज देश के एक-एक व्यक्ति में ईमानदारी होनी चाहिए और खास तौर पर उनमे, जिनके हाथ मे शासनसूत्र है।

लोकमान्य से एक बार पूछा गया था कि स्वराज्य मिलने पर आप मिनिस्टर होना पसन्द करेंगे ? उन्होंने कहा था—'नहीं, मैं किसी कॉलेज मे गणित का प्रोफेसर बन जाऊंगा।' यह थी

तिलक की निस्पृहता ! आज के देश-नेताओ को ऐसी निस्पृहता सीखने की आवश्यकता है।

सच्चा सेवाभावी न धन-कुबेर बनने की इच्छा करता है, न चक्रवर्ती बनने की, न देवलोक पाने की और न पैर पुजाने की। उसकी तो एक मात्र यही इच्छा होती है कि भले मै एक कोने मे पड़ा रहूँ, किन्तु दुखियो और दरिद्रो की सेवा करता रहूं। यदि कार्यकर्त्तागण इस आदर्श को सामने रख कर चले तो देश को स्वर्ग बनते देर न लगे। किन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज यह आदर्श भुला दिया गया है। आज बड़ी-बड़ी बाते बनाई जाती है, योजनाए पेश की जाती हैं, देश सेवा की बड़ी २ डीगे हांकी जाती है, तिलक और गांधी के नाम की दुहाई दी जाती है और उनके तथा कांग्रेस के नाम पर स्वार्थसाधना की जा रही है। सज्जनो ! देश के लिए यह अच्छे लक्षण नही हैं। अतएव मै चेतावनी देना चाहता हूं कि आज एक महान् देश सेवक की जयन्ती के अवसर पर सब लोग आत्म निरीक्षण करे और व्यक्तिगत हित को ही सब कुछ न समझ कर राष्ट्र हित की भावना को प्रधानता दे। इस तथ्य को भली भांति हृदयंगम कर ले कि राष्ट्र के हितो के संरक्षण मे ही व्यक्ति के हितो का संरक्षण हो सकता है। ऐसा समझ कर सब लोग देश की सेवा मे तत्पर होगे तो यह देश पुनः अतीत की भांति जगत् का सिर-ताज बन जायगा।

यह राष्ट्रीय-सम्यग्दर्शन ही राष्ट्र की मुक्ति का मार्ग है।



सम्यक्त्व और सत्य



अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकरा, पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्त सुपाठ का मुनिवरा, रत्न त्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम्॥

भद्र पुरुषो तथा देवियो !

सम्यग्दर्शन पर विचार चल रहा है। देखना है कि सम्यग्दर्शन क्या है ? भगवान् ने उसे क्यों महत्त्व दिया है ? मोक्ष-साधना मे दर्शन को प्रथम साधन क्यों बतलाया है ?

वीतराग की वाणी सार्थक है, निरर्थक नहीं, अर्थात् वह सत्य से परिपूर्ण है। वह बिना किसी उद्देश्य के निकली हुई वाणी नहीं है। उसमें गम्भीर रहस्य छिपा है। अतएव हमे गम्भीर भाव से उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व—दोनो विरोधी शब्द हैं। सम्यक्त्व का सीधा-सादा अर्थ है सच्चापन। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही मानना, श्रद्धा न करना, उस पर विश्वास करना सम्यक्त्व है। इसके विपरीत, वस्तु का स्वरूप अन्य प्रकार का हो और अन्य प्रकार से उसे मानना, उस पर श्रद्धा न करना मिथ्यात्व है।

जब तक आत्मा सम्यक्त्व को स्वीकार नहीं करती, अर्थात् समभाव के साथ सत्य तत्त्व को अंगीकार नहीं करती, तब तक उसका कल्याण नहीं हो सकता। अतएव आत्म कल्याण के लिए यह अनिवार्य है कि मिथ्यात्व का त्याग किया जाय और सम्यक्त्व को अपनाया जाय।

दूसरे शब्दो में सम्यक्त्व को विशुद्ध सत्य कहा जा सकता है। सम्यक्त्व कहिए, यथार्थ श्रद्धान कहिए, विशुद्ध सत्य कहिए, सम्यक् रुचि या प्रतीति कहिए, सत्य की उपासना कहिए, सब एक ही बात है।

विशुद्ध सत्य वही है जिसमे किसी प्रकार की मिलावट, सजावट, दिखावट और भेल सेल न हो। 'निर्विकारं सत्यं' अर्थात् सत्य उस ठोस तत्त्व को कहते है, जिसमे किसी प्रकार का विकार न हो, खराबी न हो, दोष न हो, मिथ्या का स्पर्श भी न हो।

इस विशुद्ध, निर्मल, निर्दोष, स्वतंत्र, अभेद्य और अविकल्प सत्य को प्रश्नव्याकरणसूत्र मे 'भगवान्' का प्रतिष्ठित पद प्रदान किया है। कहा है—

तं सच्चं भगवं।

अर्थात्—जो सत्य है, वही भगवान् है।

जो भगवान् को चाहने और पाने की इच्छा करने वाले हैं उन्हें मन्दिर, कन्दरा, समुद्र, नदी, नाले, वन और यत्र-तत्र किसी स्थान में भगवान् को न ढूंढते हुए सत्य की ही शरण मे जाना चाहिए।

सत्य को जो भगवत्स्वरूप प्रतिपादन किया गया है, सो वह विशेष रहस्यपूर्ण है। इसका अभिप्राय यह है कि सत्य की उपासना किये बिना, सत्य को सर्वतोभावेन स्वीकार किये बिना, सत्य के परमपूत चरणों मे सर्वस्व समर्पित किये विना, भगवत्पद की प्राप्ति होना संभव नहीं है। जो भगवान् बने है, जिन्होंने भगवान् का पद प्राप्त किया है, जिन आत्माओं ने आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा प्राप्त की है, वे सब सत्य को ही अपना कर भगवान् बने हैं। अतएव सत्य को भगवान् कहना सर्वथा उचित और संगत है। इस प्रकार जो भगवान् है वह सत्य है और जो पूर्ण सत्य है, वही भगवान् है।

सत्य तीन प्रकार का है—मानसिक सत्य, वाचिक सत्य और कायिक सत्य। मन में सत्य का चिन्तन हो, असत्य के प्रयोग का संकल्प न हो, किसी के साथ छल कपट करने का विचार भी उत्पन्न न हो, किसी भी प्रकार की दुर्भावना न आवे, सत्य को ही कल्याणकारी एवं सर्वोत्तम माना जाय, यह मानसिक सत्य है। वाणी के द्वारा सत्य की ही अभिव्यक्ति होना, तथ्य, हितकर और मधुर वचनो का प्रयोग करना और क्रोध, लोभ, भय आदि किसी भी कारण से अन्यथा वचनों का उच्चारण न करना वाचिक सत्य है। मन में सत्य हो, मगर वाणी में सत्य न हो, यह ठीक

नहीं। ऐसा होगा तो वह सत्य अपूर्ण या अधूरा रह जायगा। अतएव मानसिक सत्य के साथ वाचिक सत्य भी होना चाहिए।

मन मे और वाणी मे जो सत्य है, वही कर्म मे अर्थात् क्रिया मे भी आना चाहिए। इस प्रकार जहां तीनो प्रकार के सत्य का समन्वय होता है, वहीं सत्य का सम्पूर्ण चित्र बनता है।

सत्य अविनाशी तत्त्व है। वह बनाई जाने वाली वस्तु नहीं है। सत्य, सत्य था, सत्य है और सत्य ही रहेगा। वह सत्य ही क्या जो कृत्रिम हो, बनावटी हो। जो बनता है, वह बिगड़ता भी है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी होता है। यदि सत्य को बनने वाली वस्तु माना जायगा तो वह बिगड़ने वाली भी सिद्ध होगी। ऐसी स्थिति मे सत्य की विशेषता ही क्या रही? एक कवि ने कहा है—

जो सत्य है उसका नाश नहीं न असत्य कभी पैदा होता,
षट् दर्शन अपनी तोपों से, अजमा ले जिसका जी चाहे।
है दयाधर्म दुखहरण औषधि, खा ले जिसका जी चाहे॥

कवि ने सत्य के विषय मे कहा है। कितना सुन्दर भाव प्रदर्शित किया है। आज कविता बनाने वाले बहुत है। 'मुँह बायो और राग गायो।' मगर भावपूर्ण कविता ही असली कविता है। वही मनुष्य के मर्म को स्पर्श कर सकती है। आज मामूली-मामूली कविता-पुस्तके पैरो मे ठोकरे खा रही है। वह रद्दी मे बिकती है और पंसारियो के यहां पुड़िया बनाने के काम आती हैं। इस प्रकार की पुस्तको से किसी को कोई लाभ नहीं पहुंचता। चीज भले थोड़ी हो, किन्तु अच्छी हो। पथ्यकर थोड़ा भोजन भी शरीर को ताकत देता है।

कवि की वही कृति सार्थक होती है कि जिसमे शिव और सत्य हो। शिव और सत्य होगा तो सौन्दर्य भी आया रहेगा। वह शरीर किस काम का जिसमे आत्मा नही है? उस कुए को क्या बनाया जाय जिसमे पानी ही नहीं? उस पुष्प से क्या प्रयोजन जिसमे सौरभ नहीं? वह दिल किस कामका जिसमें विश्व के प्रति प्यार नहीं? वह मस्तिष्क नही जिसमे शुद्ध विचार नहीं। इसी प्रकार वह कविता भी किस काम की जो सत्य से ओतप्रोत नहीं और जिसमे कल्याण कारी कोई तत्त्व नहीं। वह तो एक प्रकार का खेल है, जिसमे अक्षरो की शृंखला जोड दी गई है। वह निष्प्राण है, निष्प्रयोजन है, निस्सार है। निष्प्राण शरीर का कोई उपयोग नहीं होता। इसी प्रकार भावहीन कविता जड़ है। उससे आत्मा को कोई बोध प्राप्त नहीं होता।

कवि ने सत्य का समर्थन करते हुए कहा है कि सत्य कोई बच्चो का खेल नहीं होता। जैसे बच्चे मिट्टी से खेलते हैं और पैर के ऊपर मिट्टी थोपते हैं, धीरे से पैर निकाल लेते हैं और कहते हैं कि देख मेरा बगला, मेरा घर, बहुत अच्छा है न! किन्तु थोडी देर का ही मामला है, वह! थोड़ी-सी बूंदे पड़ जाएँगी या हवा का एक झोंका आ जायगा तो वह घर बिखर जायगा। यद्यपि बच्चो ने जो घर बनाया है, वह उनकी दृष्टि में घर है—अबोध बच्चे उसे घर मानते हैं, किन्तु बुद्धिमान लोग उसे घर नहीं मानते क्यो कि वह सर्दी-गर्मी आदि से रक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार वह कविताए भी बच्चों के घर के समान है। उन मे कोई शक्ति नहीं है और वे कार्य सिद्धि के योग्य नहीं हैं। अतएव कविता में यदि जीवन है तो वह कविता है। अगर उसमें आत्मा को कुछ खुराक देने वाली चीज है, तभी वह लाभप्रद है।

तो असली कविता वही कही जा सकती है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि करने वाली हो, क्योकि इन्ही से आत्मा को असली खुराक मिलती है। सम्यग्दर्शन को सम्यक्त्व भी कहते है और सत्य श्रद्धान भी कहते हैं। जो सम्यक्त्व है वह सत्य है और जो विशुद्ध सत्य है, वही सम्यक्त्व है। जो सत्य स्वरूप सम्यक्त्व है, वह बनने वाली वस्तु नही है। सत्य त्रिकाल मे एक रूप ही रहता है। इस विषय मे धर्मो या सम्प्रदायो का कोई मतभेद नही है। सत्य को सभी धर्म और मत एक स्वर से शाश्वत और त्रिकाल-अबाधित स्वीकार करते है। सिक्खो के धर्म- ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थ साहब' मे कहा है—

'आद सच्च, जुगाद सच्च, है भी सच्च नानक होसी भी सच्च।'

सत्य अनादि काल से है, जहाँ से युग आरंभ होता है, वहाँ भी सत्य है, आज जो सत्य है वह भी सत्य है और भविष्य मे भी वह सत्य ही रहेगा। वस्तुतः जो रात्रि है, वह भूतकाल में भी रात्रि ही कहलाती थी, आज भी रात्रि कहलाती है और भविष्य में जो रात्रि होगी वह भी रात्रि ही कहलाएगी।

इसी प्रकार जो दिन है, जिसे दिवस कहते हैं, वह भूत-काल में भी दिन कहलाता था, आज भी दिन ही कहलाता है और कल जो दिन होगा, वह भी दिन ही कहलाएगा। वह दिन रात्रि नही बन जाएगा। इसी प्रकार जो मिथ्या है, असत्य है, वह रात्रि है और रात्रि ही रहेगा। झूठ आज भी झूठ है और आगे भी झूठ ही रहेगा। और जो सत्य है वह दिवस है। जैसे दिन भूत, वर्त्तमान और भविष्य में रहता है, वैसे ही रात्रि भी रहती है। दिन प्रकाशमय है, रात्रि तमोमय। दिन मे पदार्थों का बोध होता

है, अन्धकारमयी रात्रि में पदार्थों का बोध नहीं होता। अंधेरे मे थोड़ी दूरी पर झाड़ हिलता है, तो मनुष्य सोचता है कि कोई डाकू खड़ा है और मुझे लूटने की ताक मे है। तो यह रात्रि है, अतएव वस्तु है कुछ और मगर भासती है कुछ और ही। अन्धकार में नेत्र काम नहीं करते, इस कारण मनुष्य सत्य को ढूंढने जाता है, सत्य की खोज करता है, किन्तु कुछ सूझता नही है, क्योंकि अमावस की काली अंधियारी रजनी जो छाई हुई है। वह मनुष्य की सूझ-बूझ को गायब कर देती है।

एक वैश्य ग्रामान्तर जाने के लिए जागा तो घड़ी दो घड़ी रात्रि शेष थी। वैश्य चल पडा। कुछ लोग बारहो महीने दुकान पर बैठने वाले होते हैं। उन्हे बाहर जाने में भय लगता है। वह वैश्य ज्यों ही कुछ आगे गया तो देखा कि एक पेड़ हवा से हिल रहा है। उसने सोचा—उसी से पाला पड़ गया जिससे वह डरता था! उसने समझा—यह कोई चोर अथवा उचक्का खडा है और मुझे लूट लेगा। मैंने बड़ी भूल की कि अंधेरे मे चल पड़ा! वह झाड़ हवा से कभी इस तरफ कभी उस तरफ और कभी स्थिर हो जाता था। वह सोचने लगा—क्या करूँ? कैसे बचूं? मगर घबराहट के कारण कुछ भी निर्णय न कर सका। उसने मनमे कहा—मैं यहाँ कब तक खड़ा रहूँगा! आखिर वह बोला—देखो भैया, बात इस तरह है कि—

जो तू है कोई झाड़ झड़ोका तो बनिया मर्द वहु तेरा है!
जो तू है कोई चोर उच्चक्का तो बनिया बंदा तेरा है॥

आशय यह है कि वह वैश्य संकल्प विकल्प में इसी कारण पड़ा कि अंधकार था और वह साफ-साफ नहीं देख सकता था।

इसी प्रकार भद्रपुरुषो ! जिस पर मिथ्यात्व की काली घटाओं का अंधकार छाया होता है, वह सत्य-असत्य का निर्णय करने मे असमर्थ हो जाता है। वह धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, साधु-असाधु, जीव-अजीव आदि के स्वरूप का यथार्थ निर्धारण नहीं कर पाता क्योंकि मिथ्यात्व उसके पैर नही टिकने देता।

नो मै कह रहा हूँ कि सत्य दिन है। दिन, दिन ही रहता है। भले सूर्य के आड़े बादल आ गये हो, कभी-कभी दिन मे आषाढ़ के महीने मे काली-पीली आंधी आती है और सूर्य को आच्छादित कर देती है, वह दिवाकर की तेजोमय प्रखर रश्मियो को ढंक लेती है, मगर याद रहे कि सघन से सघन मेघमाला और आंधी भी सूर्य के अस्तित्व को मिटा नहीं सकती। वह सत्य है। एक, दो या हजार बादल भी उसे असत्य नही बना सकते। दिन-कर का प्रकाश बादलों को चीर कर बाहर निकलता है और मानो चिल्ला-चिल्ला कर दुनिया को बोध देता है कि—ऐ मेघो ! तुम मेरे अस्तित्व को नहीं मिटा सकते।

इसी प्रकार सत्य दिवाकर की दीप्ति के समान है। असत्य के कोटि-कोटि मेघ उसे नष्ट नहीं कर सकते। हजारो आदमी झूठा कलंक क्यो न लगावे, हजारो मनुष्य आक्रमण भी क्यो न करे और लाञ्छन भी क्यो न लगावे, पर याद रखना, बादलो से सूर्य का अस्तित्व नहीं मिटने वाला है। सूर्य अपने स्वरूप मे वैसा ही रहेगा।

किन्तु याद रखना बादलो ! हवा का एक अच्छा-सा झौंका आ गया तो तुम्हारा नामोनिशां भी नहीं रहेगा। सत्य की एक ही चिनगारी असत्य के घास-फूस के बने झौंपड़े को बात की बात मे भस्म कर देगी।

आज वहुत से लोग उलूक के तुल्य है। उनका दिन कब होता है? उनके प्रभात का समय कौन-सा है? सूर्यास्त उनके लिए सूर्योदय है। उस समय उन्हे थोड़ा-थोड़ा दिखने लगता है और जब सूर्य का उदय होता है, तो वह समय उनके लिए सूर्यास्त का समय वन जाता है। ज्यों-ज्यो प्रकाश होता जाता है, त्यों-त्यो उनकी आंखे मिचती जाती है। उनकी सूझ पर पर्दा पड़ता जाता है। मगर अन्य प्राणियो के लिए, जो दिन में देखने वाले हैं, दिन दिन ही है।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि को सत्य वात भी असत्य नजर आती है। सम्यग्दृष्टि सत्य को सत्य और असत्य को असत्य समझता है। उसे रात्रि, रात्रि और दिन, दिन ही प्रतीत होता है। सत्य को झूठा कलंक या लांछन लगाने वाले भले थोड़ी देर के लिए लोगो को वरगलाएँ और गलत रास्ते पर ले जाएँ, मगर सूर्य के समान सत्य छिपा नही रह सकता। वह प्रकाशित होगा और अवश्य होकर रहेगा।

सज्जनो! इस विशुद्ध सत्य का ही नाम सम्यक्त्व है। वह कोई काली-पीली वस्तु नहीं, लम्बी-चौड़ी चीज नहीं। वह सत्य मनुष्य के मन में, जवान पर और कर्म मे रहता है। उसी सत्य को शास्त्रों ने भगवान् का नाम दिया है। वह सर्वव्यापक तत्त्व है। प्रत्येक काल में, प्रत्येक क्षेत्र मे और प्रत्येक आत्मा मे उसका वास है। उसका कोई रंग-रूप नहीं, कोई आकार नहीं। वह भावमय वस्तु है। भगवान् के विषय में शास्त्र में कहा है:—

सव्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे

न तंसे न चउरंसे, न परिमण्डले, न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे, न तित्ते न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे न कक्खडे, न मउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने सन्ने, उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि । से न सद्दे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेवत्ति बेमि ॥

—श्रीमदाचारांग, अ, ५, उ. ६,

अर्थात्—भगवान्—शुद्ध आत्मा-का स्वरूप प्रकट करने के लिए कोई शब्द समर्थ नहीं है। तर्क की वहां गति नहीं, बुद्धि की भी पहुँच नहीं। वह ज्योतिर्मय-ज्ञानस्वरूप है। लोक का ज्ञाता है, उसका कोई आकार नहीं, उसमे कृष्ण आदि कोई, वर्ण नहीं, कोई गंध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, वह स्त्री पुरुष या नपुंसक नही, उसके लिए कोई उपमा नही है, वह अरुपी सत्ता है, उसके स्वरूप को प्रकाशित करने वाला कोई पद नही है। वह शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श नही है।

रूप रस गंध और स्पर्श आदि पुद्गल के धर्म है और भगवान् सत्य या सम्यक्त्व अरूपी है। इस प्रकार जो सत्य है, वह अरूपी है और वही भगवान् है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि वस्तुतः भगवान् का शरीर भी भगवान् नही है, उस शरीर मे रही हुई आत्मा भगवान् है या अशरीर आत्मा भगवान् है। यदि भगवान् के शरीर को भगवान् माना जाय तो तीर्थंकरो के मृतक शरीर को भी भगवान् मानना चाहिए। क्या आप उसे भगवान् मानेगे ? नहीं; क्योकि उसमे भगवान् के गुण नहीं।

आत्मा के बिना ज्ञान, दर्शन, चारित्र का सद्भाव नहीं होता। आधार के बिना आधेय नहीं रह सकता है। ज्ञान-दर्शन रूप चैतन्य आधेय है और आत्मा आधार है। अतएव जहाँ आत्मा नहीं, वहाँ चैतन्य भाव भी नहीं है। जहां फूल गया वहां गंध भी नहीं। करंडिये में फूल थे, वे चले गये और केवल छाबड़ी रहगई तो फिर उससे कुछ वनने वाला नहीं है। जहां तीर्थंकर भगवान् की आत्मा गई, वहीं गुण भी चले गये, क्योंकि गुण और गुणी का अभेद—तादात्म्य सम्बन्ध है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा ही भगवान् है तो फिर सभी जीवों की आत्माएँ भगवान् क्यों न मानी जाए? इसका उत्तर यह है कि जिस जीव की आत्मा आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा पर पहुँच जाती है, वही भगवान् का पद प्राप्त करती है। यों साधारणतया सभी जीवों मे भगवान् बनने की शक्ति विद्यमान है।

धर्मबन्धुओ! इस आत्मा में भगवान बनने की शक्ति है। अनन्त आत्माएँ भगवान् बनी हैं। महाविदेह क्षेत्र से अब भी बन रही हैं और भविष्य में भी बनेंगी।

नन्हा-सा बीज ज़मीन पर पड़ा हुआ नजर भी नहीं आता, वह पैरों से रौंदा जाता है, कुचला जाता है, लोग उस पर मल-मूत्र का भी त्याग कर देते हैं। परन्तु एक समय ऐसा आ सकता है कि वही बीज चमकेगा, दमकेगा और विशाल रूप धारण कर लेगा। इसी प्रकार आत्मा में अनन्त गुण छिपे पड़े हैं, किन्तु जब देव गुरु धर्म एवं ज्ञान दर्शन चारित्र आदि का योग मिल जायगा तो आहिस्ता-आहिस्ता वही नन्हा-सा बीज

भगवान् का रूप धारण कर लेगा। भगवान् महावीर को कोई महावीर के रूप मे जानता भी नहीं था, किन्तु शनैः शनैः विकास करके वह वृक्ष के रूप मे प्रसारित हुए और वीर ही नहीं, महावीर बन गये। उनकी आत्मा महावीर बन सकती है तो हमारी आत्मा मे भी वही शक्ति मौजूद है। एक छोटा-सा बट-बीज विशाल रूप धारण कर सकता है तो दूसरे बीज भी कर सकते है, क्योकि वह सजातीय है। जो गुण एक मे है, वही दूसरे सजातीय में भी है।

बीज छोटा हो या बड़ा, उसमे यदि चेतना है, तो वह विशाल रूप धारण कर सकता है, किन्तु यदि चेतना नही है, योनि नष्ट हो गई है, तो वह वृक्ष का रूप धारण नही कर सकता विकास चेतना का होता है, यदि वही न हुई तो विकास होगा किसका ? जीवित बालक ही आहिस्ता-आहिस्ता उम्र पाकर पहली दूसरी कक्षा पास करता हुआ विद्वान् बन सकता है।

आशय यह है कि आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति है, किन्तु साधन के द्वारा ही वह बन सकता है, साधन के बिना नहीं। बच्चे मे काबलियत है पढ़ने की, किन्तु शिक्षक, पुस्तक, कॉपी, पैन्सिल आदि न मिलें, साधनो का अभाव हो, तो उसे सफलता नहीं मिल सकती। बहुत से बच्चे होनहार है, दीपक बन सकते है, किन्तु साधन के अभाव से वे गलियो मे मारे-मारे फिर रहे है। किसी लडके को बाहरी साधन मिल गये, शिक्षक दो-दो आते है, धन भी है और दूसरे भी सभी साधन उपलब्ध हैं, मगर ज्ञाना-वरणीय कर्म का उदय है तो वह विद्वान् नहीं बन सकता, क्योकि उसे अन्तरंग साधन नही उपलब्ध है। पंजाब मे एक लड़का सात साल तक स्कूल मे रहा, किन्तु दूसरी से तीसरी कक्षा मे न

पहुँच सका। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक कार्य के लिए बाह्य कारणों के अतिरिक्त अन्तरंग कारण भी अपेक्षित है।

हां, तो भगवान् बनने के लिए भगवान् की शरण में जाना पडता है। वह भगवान सत्य है। अतएव इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, सत्य को अपनाने की ही आवश्यकता है। सत्य को अंगीकार कर लो, तुम भगवान् बन जाओगे। मगर लोग ऐसा करते नहीं। वे कहते कुछ और हैं तथा करते कुछ और हैं। रात को दिया जला कर या गैस जला कर दिन बनाना चाहते हैं, किन्तु याद रखना चाहिए कि दिन को जन्म देने की शक्ति तो सूर्य में ही है, दीपक या विद्युत् मे नहीं है। रात रात ही रहेगी और दिन दिन ही रहेगा। हजार चतुराई से, सुघड़ाई से, सफाई से काम लीजिए, हजार प्रकार के झूठ बोलिए, युक्ति-प्रयुक्ति से काम लीजिए, असत्य कभी सत्य नहीं बन सकता। हजार दीपक भी रात को दिन नहीं बना सकते। दिन तो एक सूर्य के उदय से ही होगा।

दो मित्र घर से निकले और दिल्ली पहुँचे। बाजार में घूमते-फिरते चांदनी चौक में, घंटे वाले हलवाई की दुकान पर पहुँचे। दोनों अच्छे कपडे पहने थे, सूट-बूट धारण किये बाबू बने थे। ऐसे जान पड़ते थे कि कोई अमीर बच्चे हैं। आज तो बाहर की सफाई है, दिखावा है, अन्दर चाहे चूहे ही दंड पेलते हों! एक जून का खाना भी न हो!

दोनों मित्रो ने सोचा—आज मिठाई खानी चाहिए। दोनों हलवाई की दुकान पर पहुँचे तो हलवाई के हर्ष का पार न रहा। उनके वेष भूषा को देख कर वह सोचने लगा कि आज दारिद्र्य

दूर हो जायगा ! वह दोनों को अन्दर ले गया । बढ़िया कुर्सी और टेबिल पर बिठलाया । दोनो ने कहा हमारे मतलब की कोई मिठाई है ? हलवाई बोला-हुजूर, अच्छी-अच्छी मिठाइयां मौजूद है । यह कह कर वह तरह-तरह की मिठाइयां लाता है । दोनो अच्छी अच्छी मिठाइयां ले लेते है और बुरी के लिए कहते है— 'इसे ले जाओ, ऐसी मिठाई तो हमारे नौकर भी नही खाते !' दोनो अपने-अपने लेटर-बोक्स मे मिठाइयां डाल लेते है । तत्पश्चात् दुकान से बाहर निकलने को उद्यत होते है । हलवाई कुछ हक्का-बक्का-सा होकर कहता है--ऐ ... 'दोनो घूर कर कहते है-- ऐसा क्या बकता है । सीधी तरह बात कर । हलवाई ने सोचा न जाने ये किस पंचमजॉर्ज के साले है ! उसने प्रकट मे कहा— अजी साहब ! अप जैसो से ही मेरे बाल-बच्चे पलते हैं ! मिठाई के दाम दे जाइए । तब उनमे से एक बोला—दाम-वाम क्या होते है ! शर्म नहीं आती तुझे ! एक ही लाठी से सब को हांक रहा है ।

देखिए, उलटा चोर कोतवाल को डाट रहा है ! जबर्दस्त का ढेगा सिर पर ! गलती आप करते है और डंडे किसी दूसरे को लगाते है ।

दोनों कहते हैं--ठग कहीं के, दाम तो पहले ही दे दिये थे । हमारा तो तरीका यह है कि पहले दाम देना और पीछे चीज लेना ।

बेचारा हलवाई सकपका गया । उसने कहा—मुझे तो एक दमड़ी भी नही मिली है !

तब एक ने कहा—क्यो झूठ बोलते हो भाई ! इन्होने मेरे सामने रुपये दिये है !

दूसरा बोला—तुझे चाहिए जो कुछ पैसे और ले ले । हमारे घर मे कोई कमी नही है । मगर झूठा कलंक लगाना ठीक

नहीं। दाम मैं दे चुका हूँ। (दूसरे की ओर इशारा करके) क्यो साहब, मैंने आपके सामने दाम दिये या नहीं ?

गवाह भी तत्काल तैयार हो गया ! छोटे-छोटे मुकदमे और बड़े-बड़े गवाह ! गरम-गरम कचौड़ियां खाने के मारे हो गये तबाह !

गवाह ने कहा—दिये हैं भाई, दिये है। मैं झूठ क्यों कहूँ ! मेरे सामने दाम दिये थे ! गवाह ने फिर कहा—हमने तो सुना था कि घंटे वाले हलवाई की दुकान अच्छी है ! किन्तु यहां ईमानदारी नहीं है ! अरे भाई हलवाई, कहीं मेरे दिये दाम भी मत भूल जाना। ला, मेरे बाकी के दाम दे, मैं चल दूँ।

झगड़ा बढ़ गया। लोग इकट्ठे हो गए। मिठाई भी सफाचट कर गये और ऊपर से दाम भी मांगने लगे ! लोगों के सामने दोनो बढ़-बढ़ कर बोलने लगे और हलवाई को बेईमान बताने लगे। उनके ढंग देख कर दूसरे लोग भी हलवाई की लानत-मलानत करने लगे। कोई सचाई की खोज नहीं करता और सब हाँ मे हाँ मिलाते है। एक भेड़ करती है—बे ' ''''' 'तो सारी भेड़ें बें बे ' करने लगती हैं। बेचारा हलवाई सच्चा होता हुआ भी झूठा पड गया ! इतना ही नहीं, ऊपर से वे उसी से दाम मांगने लगे। हलवाई ने अपनी दुकान की प्रतिष्ठा रखने के लिए उन्हे उलटे मुँहमाँगे दाम दिये। दोनों दोस्त मूछों पर ताव देते हुए चले गये।

दुनिया के लोगो ! इस प्रकार कभी सत्य को झुठलाया जा सकता है, मगर आखिर तो सत्य ही है, कभी झूठ नहीं हो सकता।

आप मनुष्य को धोखा दे सकते है, किन्तु भगवान् को धोखा नहीं दे सकते। उन लोगो ने झूठ पर सत्य का रंग चढ़ा दिया, मगर याद रखना—झूठ कदापि सत्य नही बन सकता । यदि रात कभी दिन बने तो झूठ कभी सत्य बने।

सत्य मनुष्य की कल्पना पर निर्भर नही है कि वह उसे अपनी इच्छा के अनुसार रुप दे सके। सत्य अपने आपमे सत्य है। सत्य के आधार पर विश्व टिका है, वह स्वयं मनुष्य की कल्पना पर नही टिका है।

बस, यही सत्य सम्यक्त्व है। जिस समय गृहस्थ सम्यक्त्व धारण करता है, अर्थात् गुरु बनाता है, उस समय समकित का पाठ बोला जाता है:—

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहिय ॥

अर्थ—आज से मैं यह सम्यक्त्व ग्रहण करता हूँ कि राग-द्वेष आदि समस्त आत्मिक शत्रुओं को जीतने वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान् मेरे देव है, पांच महाव्रतो का पालन करने वाले संयम परायण सच्चे साधु मेरे गुरु है और जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है।

भद्र पुरुषो! तुम्हारी गांठ मे रत्न बँधे पड़े है किन्तु तुम उन्हे समझने की कोशिश नही करते। 'अरिहंतो मह देवो' की घोषणा करके पड़ौसियो को भी जगा देते हो, मगर तुमने आत्मा को नहीं जगाया ! मगर आत्मा कोरा शोर मचाने से नही जागेगी भावों को समझने से जागेगी। अतएव जो भी शब्द बोलो, उनके

आशय को समझ कर बोलो । अर्थ जाने विना शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। जबान का काम बोलने का है और मस्तिष्क का काम सोचने-विचारने का है। शान्ति के साथ, गंभीर और धीमे शब्दो में शास्त्र के पाठों का उच्चारण करना चाहिए। हां यह भी याद रखना कि पहर रात गये बाद ऊंचे स्वरों से नहीं बोलना चाहिए। आप सोचेंगे कि यह सब नियम साधुओ के लिए ही है, परन्तु ऐसा नहीं है। बड़े बेटे के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता है, छोटे बेटे के लिए भी उस की आवश्यकता है, ऐसा न करने से कभी-कभी बड़ी गड़बड़ी हो जाती है।

रोहतक जिले की बात है। वहां के स्थानक मे एक भाई दो तीन बजे ही सामायिक करने आ जाता था। एक दिन वह जल्दी ही घर से निकल पड़ा और रास्ते मे शान्तिनाथ प्रभु तथा महावीर भगवान् का जयजयकार करता हुआ और भजन आदि बोलता हुआ स्थानक की तरफ आने लगा, जिससे गांव वालो को पता लग जाय की भगतजी महाराज आ रहे हैं। स्थानक के पास हलवाई की एक दुकान थी। हलवाई ने सेठजी की आवाज सुनी और उठ बैठा। उसने सोचा—सेठजी सामायिक करने आ रहे है तो सवेरा होने ही वाला है। उसने भट्ठी जलाने के लिए लकड़ियां भट्ठी में डाल दी। सयोग की बात है कि रात्रि में भट्ठी में कुतिया ने बच्चे दे दिये थे और वह बाहर चली गई थी। हलवाई ने भट्ठी में पलीता लगाया और भट्ठी जल उठी। बच्चें जल कर राख हो गये।

भगतजी ने शान्ति और विचार से काम नहीं लिया। धर्म-स्थान मे शोर करने की आवश्यकता नहीं। आत्मा को सुनाओ,

पडौसी की फिक्र पीछे करना। देखो न, शोर करने से पंचेन्द्रिय जीवों की घात हो गई। धर्म विवेक मे है, विचार मे है। विवेकवान् पुरुष आस्रव के कारणो से भी सवर साध लेता है और अविवेकी धर्मक्रिया से भी पाप कमा लेता है। इसलिए मै भक्तो से कहूँगा कि कोई दो बजे सामायिक के लिए आना चाहता है तो मेरी तरफ से सारी रात सामायिक करो। मै आपकी धर्म-सेवा किसलिए कर रहा हूं? आपकी धर्म प्रवृत्ति बढाने के लिए मैं इतना पसीना बहाता हूँ। आपकी धर्मजागरणा के लिए यह सब कर रहा हूं। जितना धर्म का सेवन होगा, उतना ही आत्मा का कल्याण होगा किन्तु आपको यह विवेक अवश्य रखना चाहिए कि कहीं धर्म करते-करते अधर्म न हो जाय। यह बात मै आपके हित के लिए आपके कल्याण की भावना से कहता हूं मै आपको अपना शिष्य समझ कर कहता हूँ कि रात्रि मे ऊँचे स्वर से न बोला करें। अगर आप मौन भाव से आत्मा का चिन्तन करेंगे तो विशेष आत्मशांति प्राप्त कर सकेंगे। अपने स्वार्थ की बात भी मै आपसे कह दू। जब हम प्रभात मे, ब्रह्ममुहूर्त मे उठ कर चिन्तन-मनन करते है तो आपके शोर करने से हमारे उस चिन्तन मनन मे भी व्याघात होता है, क्योंकि सभी तो भरत माहाराज नहीं है। अतएव मै साधु के नाते, भिक्षु के नाते भीख मांगता हूँ कि आप सबेरे के समय मे ऊँचे स्वर मे न बोलें।

मैं तो यह चाहूंगा कि धर्मस्थान में सारीरात धर्मजागरण हो, क्योंकि आज बहुत जगह स्थानक खाली पड़े है। कोई कचरा भी नहीं निकालता और पक्षियो ने वहां घौसले बना रक्खे है। हमारे धर्मस्थानक खुले रहने चाहिए और उनमे धर्म की ज्योति जलनी चाहिए। सामायिक आदि धर्मक्रिया तो सदैव लाभ का



नमस्कारमंत्र-माहात्म्य

उपस्थित भद्र पुरुषो तथा बहिनो ! अभी-अभी आपके सामने मंगलाचरण के रूप में परमानन्ददाता पंचपरमेष्ठी-मंत्र का उचारण किया गया है और वह स्तुति के रूप में उच्चारण किया गया है। इसमें कवि ने अपनी हार्दिक भावना को व्यक्त किया है। संसार मे अनेक मत्र प्रचलित है और वड़ों के मुख से मैंने सुना है कि चवालीस सौ मंत्र हैं ! कोई किसी काम आता है और कोई किसी काम मे। सब के फल अलग-अलग हैं। कोई मंत्र विच्छू का विप दूर करता है तो कोई सर्प का जहर उतारता है।

सज्जनो ! यह मंत्र द्रव्य-विप को दूर करने वाले हैं। शरीर में विप व्याप्त हो जाता है तो दुःख के कारण मनुष्य व्यथित हो जाता है और उसे पल भर भी शान्ति नहीं मिलती। बिच्छू काटता है तो प्राणी कष्ट से तडफता है। न स्वयं सोता है और न पड़ौसियों को सोने देता है।

साँप और बिच्छू जैसे जहरीले जंतुओ का जहर मनुष्य की शान्ति भंग कर देता है और तड़फन पैदा कर देता है। वह जहर शरीर में फैल कर व्यथित तो करता ही है और दुःख तो देता ही है, किन्तु कभी-कभी प्राणान्त भी कर देता है।

सज्जनो ! इस लौकिक द्रव्य-विष को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मंत्र है, जो उसके प्रभाव को नष्ट कर देते है, किन्तु वे आत्मगत विष को दूर करने में असमर्थ है। वह आत्मगत विप कर्म है, जो एक-एक आत्मप्रदेश को अनन्त २ कर्मवर्गणा के रूप में आच्छादित किये हुए है। सर्प और बिच्छू यदि अधिक से अधिक हानि पहुँचावे, तो प्राणहानि से अधिक कुछ भी नहीं कर सकते, किन्तु आत्मगत विष आत्मा को अनन्त काल पर्यन्त अनन्त बार मृत्यु का कारण बनाता है— अर्थात् संसार में परिभ्रमण कराता है। वह अनन्त जन्म-मरण का दंड देने वाला है। अतएव सर्प एवं वृश्चिक आदि के विप से आत्मगत कर्म-विष अधिक भयंकर है। कर्म के डँसे प्राणी ससार मे अस्तव्यस्त एवं क्षत-विक्षत हो रहे है। अनादि काल से कर्म का जहर जीव के साथ व्याप्त हो रहा है। वह कभी-कभी मन्द हो जाता है। तो कभी-कभी जोर पकड़ जाता है। जब जोर पकड़ जाता है तो जीव व्याकुल हो जाता है। इस विष को दूर करने वाला सर्वोपरि महामंत्र अगर है तो णमोकारमंत्र है। जिस विष के प्रभाव से आत्मा अपना भान भूल रहा है, और आराम लेना मुश्किल हो रहा है, उस विप का नाश करने की शक्ति एक मात्र णमोकारमंत्र मे ही है। वह महामंत्र पंचपरमेष्ठी-नमस्कार रूप है। इसे सुन कर, पढ़ कर, इस पर विश्वास और श्रद्धा जमाकर अनन्त प्राणियो ने कर्मरूप विष को दूर किया है, आज भी कर रहे है और भविष्य मे भी करेगे।

लौकिक मंत्र कदाचित् असर करे अथवा न भी करे, ज़हर उतारे या न उतारे, किन्तु मैं दावे के साथ कहूँगा कि जिन्होंने श्रद्धा के साथ इस महामंत्र का जाप किया है, इसे जीवन मे उतारा है या किसी महान् गारुडी से सुना है, उनका अवश्य ही बेड़ा पार हो जायगा।

सज्जनो ! इस महामंत्र ने मनुष्यों के ही जहर को दूर नहीं किया, किन्तु जिन्होंने श्रद्धा के साथ इसका श्रवण किया, इसे अन्तरआत्मा मे प्रतिष्ठित किया, उन पशुओं—तिर्यंचों के भी दुःख दूर हो गये। आपने धरणेन्द्र और पद्मावती, जो नाग-नागिन के रूप में थे, के विपय में सुना ही होगा। कमठ नामक एक योगी था। वह लकड़े फूंका करता था और पंचाग्नि तप तपा करता था। वह ऐसा करने में ही मोक्ष मानता था। उसका मोक्ष कितना सस्ता था! अगर लक्कड़ फूंकने से ही मोक्ष मिलता हो, तब तो इन बहिनो की बारी सब से पहले आनी चाहिए, क्योंकि भोजन बनाते समय इन्हे रोज ही लक्कड़ फूँकने पड़ते हैं! और वह हलवाई, जो चार घड़ी रात रहते जाग जाते है और टाल की टाल खाली कर देते हैं, वह भी मोक्ष जाने में क्यो पीछे रहेंगे? किन्तु भगवान् ने अग्नि को महान् तीक्ष्ण शस्त्र कहा है। अग्नि सर्वभक्षिणी है। वह कच्चे-पक्के, गीले-सूखे सभी को भस्म कर देती है। मालूम है यह कितनी क्रूर और भयानक वस्तु है! जब वह चेतती है तो जगल के जंगल और ग्राम राख के ढेर बन जाते हैं, प्रलय का भीषण दृश्य उपस्थित हो जाता है।

मेरा चौमासा बम्बई (कांदावाड़ी) में था। प्रवचन आरंभ हुए करीब १५ मिनिट हुए थे कि पड़ौस मे आग लग गई। हल-

चल मच गई। आग ने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। हवा ने उसकी सहायता की। जल्दी ही अग्नि की विकराल एवं लपलपाने वाली ज्वालाएँ आकाश को स्पर्श करने लगी। कार्पोरेशन के कर्मचारी भी आए और दमकले भी आई, किन्तु वह ज्वाला-मुखी जल्दी काबू मे न आ सकी। बचाव के बहुत प्रयत्न करने पर भी उसने ग्यारह मनुष्यो की बलि ले ली ! सम्पत्ति कितनी स्वाहा हो गई, यह पता नही।

इस प्रकार भयानक आग को प्रज्वलित करना भला मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? कर्म कोई घास-फूस या लक्कड़ तो है नही कि उन्हे जलाने से मोक्ष मिल जाता हो !

जैन शास्त्र अग्नि को महान् शस्त्र कहते है। यही कारण है कि जलकाय, पृथ्वीकाय और वनस्पतिकाय के जीव तो एक भव लेकर मुक्ति पासकते है और आज भी पानी, पृथ्वी एवं वनस्पति में एक भवावतारी जीव बैठे है, किन्तु अग्नि के जीवो का मोक्ष जाना तो दूर रहा, मनुष्य योनि मे जन्म लेना भी संभव नही है। अग्निकाय और वायुकाय के जीव ४८ प्रकार के तिर्यंचो के अतिरिक्त किसी भी उन्नत गति मे नही उत्पन्न हो सकते। वे तिर्यंच के सिवाय न मनुष्य योनि पा सकते है और न देवयोनि ही। इसीसे भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि अग्नि भयानक शस्त्र है और घोर पाप का कारण है। फिर भी आश्चर्य है कि लोग आग लगा कर मोक्ष पाने की आशा रखते है।

जालंधर (पंजाब) की घटना है। मै जंगल जाकर लौट रहा था तो देखा कि रास्ते मे एक बाबाजी ने धूनी लगा रक्खी है।

में उसके पास से निकला तो उसने खड़े होकर तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दन किया। मैं विचार मे पड़ गया कि यह फरिश्ता कौन है लक्कड़ फूँकने वाला! मैंने उससे पूछा—आप कौन हैं?

बाबा ने कहा—मै भी जैनी था। मुझे वैराग्य हो गया तो साधु बन गया!

मैंने मन ही मन विचार किया—यह कैसे कुंड में से निकल कर कुए में गिर पड़ा।

इसके बाद मैंने प्रकट मे कहा—भले आदमी, यह क्या रचना रची है? आग फूंकने में तो घोर हिंसा होती है।

उसने उत्तर दिया—महाराज, धूनी मे जले हुए जीव सीधे स्वर्ग में चले जाते हैं, वैकुंठ पा लेते हैं!

मैंने सोचा—यह तो पूरा फरिश्ता बना हुआ है! फिर कहा—तुम क्या बनोगे?

वह बोला—मैं भी वैकुंठ मे जाऊँगा।

सज्जनो! यही अज्ञानता है। यही विवेक शून्यता है। इससे स्वर्ग नहीं मिलता है।

हां, तो वह कमठ नामक तापस धूनी जला कर तप कर रहा था। उसे सूचना मिली कि राजा और राजकुमार भी मेरे दर्शन के लिए आ रहे हैं, तो उसने अपनी मान-प्रतिष्ठा को विशेष बढावा देने के लिए और भी मोटे-मोटे लक्कड धकेल दिये। राजकुमार से माता-पिता ने आग्रह किया कि अपने नगर में एक बड़े तपस्वी

आए हैं। उनके दर्शन के लिए तुम भी चलो। राजकुमार कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। वह मति-श्रुत और अवधिज्ञान के धारक थे। भूत-भविष्यत् के बहुत-से भावों को जानने वाले थे। वह जानते थे कि यह सौदा मेरे लिए नफे का नहीं, नुक़सान का है, किन्तु माता-पिता की आज्ञा का पालन करना मेरा धर्म है। इसके अतिरिक्त नाग और नागिन का उद्धार भी होना था। अतएव राजकुमार पार्श्वनाथ, भावी तीर्थंकर, अश्वसेन राजा के पुत्र, वामादेवी के आत्मज, माता-पिता के आज्ञाकारी सुपुत्र, तापस कमठ के पास पहुंचते हैं। वहाँ समूह के समूह, टोलियों की टोलियाँ और झुंड के झुंड लोग जा रहे थे।

दुनिया अंधी होती है उसे मालूम नहीं कि उसको हाँकने वाला कौन है ? संसार की परिस्थिति तो यह है—

एक एक के पीछे चले, रस्ता न कोई बूझता।
अंधे पड़े सब घोर में, कहाँ तक पुकारे सूझता॥

इसे कहते हैं भेड़िया धसान या गाड़र-प्रवाह! एक के पीछे सभी गाड़रें चली जाती हैं। कोई नहीं सोचता कि हम कहां और क्यों जा रहे हैं ? हमारे जाने का उद्देश्य क्या है ? हम सही रास्ते पर जा रहे हैं या गलत रास्ते पर ? इस प्रकार सोचने विचारने का अवकाश किसे है ? आज तो वही उक्ति चरितार्थ हो रही है:—

बड़ो ऊट आगे भयो, पीछे भई कतार।
सब ही डूबे बापड़े, बड़े ऊँट की लार॥

आज भी संसार की यही दशा है। बुद्धिमत्ता से काम लेने वाले कम हैं। अधिकांश पर तो 'गतानुगतिको लोकः' की कहावत लागू होती है। एक जा रहा है तो उसके पीछे आंख मीच कर दूसरे भी चल पडते हैं।

संसार मे सत्य के पुजारी और ग्राहक सदैव थोड़े रहे है। आडम्बर के पुजारी ही अधिक होते है। एक तपस्वी यदि आत्म-साधना के लिए गंगातट पर बैठ जाय तो उसे रोटी के लिए भी कोई पूछने वाला नही। इसके विपरीत किसी के साथ चेलो की जमात है और हाथियो—घोड़ो की फौज है तो दुनिया उसके लिए सभी कुछ करने को तैयार है। आज इमीटेशन के ग्राहक बहुत और असली के ग्राहक कम हैं। परन्तु सत्य है, असली, असली ही रहेगा और नकली, नकली ही रहने वाला है। असत्य बहुमत से सत्य नहीं बन सकता।

तापस के पास जाने वाले अधिकांश लोग गतानुगतिक-लकीर के फकीर ही थे। जो भी जाते, तापस के श्रीचरणों में झुक-झुक कर प्रणाम करते। राजकुमार वहाँ पहुँचे और उन्होंने परिस्थिति का अवलोकन किया। राजकुमार ने उस तापस का अभिवन्दन नहीं किया। अभिवन्दन अधिक गुण वाले को किया जाता है। यह मस्तक हर एक के सामने झुकने को नहीं है। मस्तक उत्तमांग कहलाता है। इस में विचारो के बहुमूल्य जवाहरात, हीरे, पन्ने, माणक, और मोती भरे पड़े है। इसमे ज्ञान की ज्योति जग रही है। यह मानव-शरीर मे रेडियो-स्टेशन है—धर्म अधर्म आदि की खबरों को 'कैच' करने वाला है। यह ठीक हो तो आंखें भी ठीक काम करती हैं, शरीर भी ठीक काम करता है, अन्य इन्द्रियाँ भी ठीक काम करती हैं। इसमे विकृति आजाने

पर मनुष्य पागल कहलाने लगता है। जब केन्द्रस्थान मे खराबी आ जाती है, तो सभी जगह खराबी आजाती है। पावर-हाउस मे खराबी होने पर आपके घर के लट्टू लटकते ही रह जाते है, क्योकि वे पावर-हाउस पर ही आश्रित है।

मस्तिष्क पावर-हाउस है। समस्त विचारशक्ति का केन्द्र है। देश के शासन के लिए प्रान्तीय सरकारे होती है और एक केन्द्रीय सरकार होती है। इस देश की केन्द्रीय सरकार देहली मे है और प्रान्तीय सरकारे अलग-अलग प्रान्तो मे है। प्रान्तीय सरकार मे शिथिलता आ जाय तो केन्द्रीय सरकार उसे सँभाल लेती है, क्योंकि वहा सर्वोत्तम शक्ति पुंजीभूत है। अगर केन्द्रीय सरकार असफल हो तो प्रान्तीय सरकारो की रक्षा कौन करे? फिर तो मामला काबू से बाहर ही हो जाता है।

ठीक इसी प्रकार हमारे शरीर के हृदय आदि अवयव प्रान्तीय सरकारे है और यह मस्तिष्क केन्द्रीय सरकार है। यदि यह सही-सलामत है, व्यवस्थित है, तो प्रान्तीय सरकारे ठीक तरह काम करती है और यह फेल हो जाता है तो सभी अंग फेल हो जाते है। अतएव मस्तिष्क का सदुपयोग करना चाहिए, दुरुपयोग नही करना चाहिए। इस केन्द्रीय सरकार को यो ही बर्बाद नही करना चाहिए। यह सब अंगो मे उत्तमांग है। गुणी जनो के सामने मस्तिष्क को न झुकाना पाप है, अविनय है, और अभिमान का सूचक है। इसी प्रकार अगुणियो के सामने झुकाना भी पाप है। जो दुर्गुणी है, अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, गलत रास्ते का पोषक है और दुनिया को गलत राह पर ले जाता है, उसके सामने उत्तमांग को झुकाना भी पाप है, क्योंकि इससे उसकी जहालत को प्रोत्साहन मिलता है।

मस्तक झुकाने वाला उनके कार्यों का और उपदेशो का परोक्ष रूप मे समर्थन करता है, अतएव वह मानव को पथभ्रष्ट करने का साधन है। मस्तक हमारा झुकना ही चाहिए, मगर गुणी जनो के आगे झुकना चाहिए, दुर्गुणियो के आगे नहीं।

राजस्थान के निवासियो ! तुम्हे महाराणा प्रताप का स्मरण दिलाने की आवश्यकता नही। उन्होने बड़ी-बड़ी मुसीबते झेली। वे भूखे रहे, प्यासे रहे, जंगलो मे भटकते फिरे। किन्तु बादशाह अकबर के सामने नही झुके। बड़े-बड़े राजा झुक गये, कितनी ही रिसायतो ने अपने घुटने टेक दिये, किन्तु महाराणा किस धातु के बने थे कि उन्होने झुकना पसन्द नही किया ? उनके सामने कौनसा आदर्श था, जिसने घोर संकटो का सामना करने के लिए प्रेरित किया, मगर अकबर के आगे नतमस्तक न होने दिया ? उन्होंने कहा कि मै मर मिटूंगा, मगर गोभक्षक के आगे मेरा मस्तक नही झुकेगा ! मेरा मस्तिष्क कोई नारियल नही है कि चाहे जिस पाषाण पर दे मारा जाय। सज्जनो ! इसे कहते है स्वाभिमान ! यह है गौरव और यही है शालीनता।

जिस मनुष्य मे स्वाभिमान नही है, आत्मगौरव की झलक नही है और जो अपनी आत्मा का अपमान करने मे आनाकानी नही करता, वह मिट्टी का लौदा है ! कवि कहता है—

जिसको न निज गौरव-तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है, और मृतक समान है॥

आत्मगौरवहीन व्यक्ति निस्तेज, निष्प्राण और निर्माल्य है। उसके जीवन मे चेतना नहीं। वह अपने सिद्धान्त और आदर्श पर अड़ा नही रह सकता।

अभिमान और स्वाभिमान मे बहुत अन्तर है। अभिमान मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है और स्वाभिमान उत्थान और विकास की ओर अग्रसर करता है। अभिमान बाह्य पदार्थों का, धन का, बल का, रूप का, वैभव का, जाति का और कुल आदि का किया जाता है, स्वाभिमान आत्मा का होता है। यह आत्मा सिद्ध के समान है और उसका अपमान न होने देना, अपने गुण-गौरव मे रहना, स्वाभिमान है।

स्वाभिमानहीन जन बिना पैदी का लोटा बन जाता है। वह सवेरे-सवेरे न जाने कितनी जगह मत्था टेकता है और फिर गुरुजी के पास आता है। इस प्रकार के लोग अपनी आत्मा का अपमान करने वाले है। आत्मा का सम्मान करने वाला पुरुष गुणी जनो के सामने ही झुकना जानता है।

मेवाड़ के महाराणा प्रताप का एक भाट था। वह महाराणा की विरुदावली का बखान किया करता था। महाराणा तो अरवली पहाड़ो मे भटक रहे थे। आप खयाल कर सकते है कि जिसके स्वामी की यह दशा हो, उसके सेवको की क्या परिस्थिति हो सकती है? वह पहले विरुदावलियाँ गाने वाला था, किन्तु अब उसे कोई पूछता भी नहीं था। वह बहुत दुखःमय अवस्था मे पहुँच गया था। एक कहावत है—जब छींक आती है तो सहज ही सूर्य की तरफ मुंह जाता है। उस भाट ने चारो ओर दृष्टि फैलाई और सोचा कि कहाँ जाना चाहिए कि जीवन के साधन प्राप्त हो जाएँ। वह भाट दिल्ली गया। वहाँ बादशाह अकबर का दरबार लगा था। दरबार में समस्त उच्च राजपदाधिकारी तथा मत्रीगण बैठे हुए थे। दरबार की शान अनोखी थी। भाट द्वार पर पहुंचा और द्वारपाल उसे भीतर ले गया। भाट के सिर पर जो

पगड़ी बँधी थी, बहुत पुरानी थी। उसने अन्दर जाते ही पगडी बगल मे दबा ली और नंगे सिर से ही बादशाह का अभिवादन किया। यह देखते ही बादशाह का पारा चढ़ गया-टेम्परेचर हाई हो गया। उसने कहा—कौन है तू मेरे दरबार का निरादर करने वाला! यह पाजी कहाँ से आया है?

भाट ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—मैं महाराणा प्रताप का सेवक हूँ। उनके चरण-रज से अपने जीवन का पोषण करने वाला हूँ। उदयपुर से आया हूँ।

अकबर—यहाँ आने का मकसद क्या है?

भाट—मै आजीविका की तलाश मे आपके दरबार मे आया हूँ। महाराणाजी तो स्वाभिमान के पथ पर है, अपने कुल को अलंकृत करते हुए, मातृभूमि मेवाड़ की रक्षा के हेतु पहाड़ो मे फिर रहे है। किन्तु मै गरीब हूँ, मोहताज हूँ और मेरे जीवन के साधन टूट गये है। अतएव आशा से प्रेरित होकर मै आपके दरबार मे आया हूँ।

भाट की बात सुनकर अकबर हैरान रह गया। मन ही मन सोचने लगा—यह कैसा अजीब आदमी है! इधर तो मुझसे जीविका चाहता है—जीवनपोषण की आशा से मेरे पास आया है और सभा मे मेरा अपमान भी कर रहा है!

बादशाह ने उससे कहा—तुझे पता है कि दरबार मे नंगे सिर नहीं आते। फिर तूने नंगे सिर से क्यो नमस्कार किया?

भाट—जहांपनाह! मै राणाजी के चरण-कमलो मे पलने वाला हूँ। सब कुछ जानता हूँ

बादशाह—तो फिर जान-बूझ कर तूने मेरा और मेरे दरबार का अपमान किया है ?

भाट—हुजूर, क्षमा करें। यह महाराणा की दी हुई पगड़ी है, जो अपने गौरव की रक्षा के लिए जगलो मे मारे-मारे फिरते है और जिनके बच्चे दाने-दाने के लिए मोहताज है। अगर वह महाराणा प्रताप आपके सामने झुके तो यह पगड़ी भी झुक सकती है।

स्वाभिमान से भरी भाट की बातो ने बादशाह के हृदय को भी हिला दिया। उसके हृदय मे तूफान पैदा कर दिया। वह सोचने लगा--इसे अपनी जिंदगी की भी परवाह नही है स्वाभिमान के सामने !

फिर बादशाह ने कहा--जानता है, इस गुस्ताखी की क्या सजा हो सकती है ! तुझे जिंदगी से हाथ धोना पड़ेगा।

भाट--आप चाहे तो मेरे शरीर को खत्म कर सकते हैं, पर आत्मा का कुछ भी नहीं बिगाड सकते।

इसे कहते है आत्मगौरव ! यह है स्वामिभक्ति ! आज तो यह हाल है कि जिस थाली मे खाते हैं, उसी मे छेद करते है और जिस चूल्हे मे पकाते है, उसी को खराब करते है। ऐसे गद्दार देशद्रोही स्वय भी डूबते है और देश को भी डुबाते है। महाराणा प्रताप का भाट, जो दुखी अवस्था मे है, जिसके पास खाने को दाना नही है, अपने स्वामी के प्रति इतनी निष्ठा रखता है ! जिसके भाट मे इतना स्वाभिमान है, उस महाराणा प्रताप का अकबर बाल भी बांका नहीं कर सकता। अकबर ने सोचा–जिस

व्यक्ति की प्रजा मे ऐसा गजब का स्वाभिमान है, वह कैसे मेरे वश मे आ सकता है !

भाट की स्वामिभक्ति देखकर अकबर ने उसे सजा देने के बजाय इनाम दिया। अपने विरोधी के सेवक का भी उसने स्वाभिमान की बदौलत आदर किया। भाट को नई पगड़ी मिली और गौरव मिला। अपने स्वामी के गौरव की रक्षा करने के कारण ही उसे यह सम्मान मिला।

किन्तु आज क्या हो रहा है? आज के सेवक इधर स्वामिभक्ति की शपथ लेते है और उधर स्वामी की आज्ञा की अवहेलना करने मे भी संकोच नहीं करते। अवसर आने पर वे स्वामी को अंगूठा दिखा देते है। कोई अलिफ हो या वे, प्रेमचन्द हो या खेमचन्द, जो स्वामिभक्त होने का दावा करते है और फिर मामूली सी बातो को लेकर कहते है कि गुरुजी ने यो कह दिया, त्यो कह दिया, वे सच्चे स्वामिभक्त नहीं है-वेजीटेबिल भक्त है – नकली भक्त है। सच्चे स्वामिभक्त अपने स्वामी के आदेश को कदापि नहीं ठुकराते। वे मर जाते है, अपने प्राणो की बलि दे देते हैं, किन्तु अपने स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते।

पति की उपस्थिति मे यदि भद्रा पतिव्रता रही तो क्या रही! हां, पति की अनुपस्थिति मे यदि दूसरा पति नहीं करती, तभी वह पतिव्रता कहला सकती है। जो परोक्ष मे अपने स्वामी को धोखा देता है और दूसरा स्वामी बना लेता है, सज्जनो! वह गद्दार है, टोडी बच्चा है।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य मे स्वाभिमान होना चाहिए। मनुष्य को अपनी आत्माका और अपने मस्तिष्क का गौरव समझना

चाहिए। यह आत्मा और यह मस्तिष्क ऐरे-गैरे के सामने झुकने के लिए नहीं है। गुणी जनों के सामने ही यह झुक सकता है।

राजकुमार पार्श्वकुमार कमठ की धूनी के पास पहुँचते हैं, जहां हजारों मनुष्य सजदा कर रहे हैं, किन्तु विवेकशील राजकुमार ने प्रणाम नहीं किया। राजकुमार गंभीर भाव से वहां की परि-स्थिति का आकलन करते है। तापस के दिल मे खयाल आया कि मुझे सब लोग प्रणाम कर रहे हैं, किन्तु इस राजकुमार ने क्यो प्रणाम नहीं किया ? आखिर जब तापस से नहीं रहा गया तो उसने कहा—राजकुमार ! तुमने प्रणाम क्यो नहीं किया ?

राजकुमार उत्तर मे बोले—

'अहो अकज्ज, अहो अकज्ज ।'

अर्थात्—बडा अनर्थ हो रहा है ! जुल्म हो रहा है।

राजकुमार की आत्मा अनायास ही पुकार उठी, चीत्कार कर उठी। उनके अन्तर की गहराई मे दया का जो निर्मल सलिल एकत्र था, वह मानो पूर बन कर कंठ-प्रदेश से बाहर उमड़ पडा।

यही भव्य जीवो की पहचान है। यह अनुकम्पा ही समकित का लक्षण है। वह दया किस मतलब की जो क्रिया के रूप में परिणत न हो और जो अन्त करण को आर्द्र न करदे। आज बहुत-से नामधारी जैनो ने जिस प्रकार दया की छीछालेदर की है, उसे देखकर अत्यन्त खेद होता है। वे कहते है—अगर कोई मर रहा है, तड़फ रहा है, दु.ख से विकल हो रहा है, व्यथा से बिलबिला रहा है और दया की प्रार्थना कर रहा है तो देखने वालो ! तुम अपने दिल को पत्थर का बना लो। ऐसा कठोर बना लो कि वह पिघलने न पावे। उसे दु ख से, पीड़ा से, व्यथा से

बचाने का विचार भी मन मे न आने दो। क्योंकि वह अपने कर्मों का फल भोग रहा है। कर्ज लेने वाले ने लिया था। वह अब उसे चुका रहा है। तुम दुःख से बचाने के लिए क्यो बीच मे अपनी टांग अड़ाते हो ? उनके ग्रथ का एक नमूना लीजिए--

गिरस्थी रे लागी लायो,
घर बहार निसरयो न जायो।
बलता जीव बिलबिल बोले,
साधु जाय किवाड न खोले ॥

गृहस्थ के घर मे आग लग गई है। भीतर मनुष्य है, बाहर दरवाजा लगा है। वे निकल नहीं पा रहे है और आग मे जलते हुए बिलबिला रहे है। पास के मकान मे साधु है और वे यह भयानक दृश्य देख रहे है। उनका धर्म है कि वे जाकर किवाड न खोले।

सज्जनो ! इस पद्य मे साधु को किवाड़ खोलने की मनाई की गई है, इससे आप यह न समझ ले कि गृहस्थ किवाड खोल दे तो उसे पाप नही होगा। नही, उनकी एकान्त मान्यता यह है कि जो साधु के लिए धर्म है, वही श्रावक के लिए है और जो साधु के लिए पाप है, वह गृहस्थ के लिए भी एकान्त पाप है। अतएव पास-पड़ौस मे रहने वाला गृहस्थ यदि किवाड़ खोल कर उन जलते हुए मनुष्यो की रक्षा करता है तो वह एकान्त पाप का भागी होता है।

कोई किसी को कत्ल कर रहा है तो कहा जा सकता है कि वह उसके शरीर की कत्ल कर रहा है। दया तो दिल मे है। कोई मर रहा है तो भले ही मरे उसकी आत्मा थोडे ही मरती है। दया तो हमारे घट मे है। मगर मैं पूछता हूँ कि वह दया किस मर्ज की

दवा है, जिसने मरते को नहीं बचाया। वह पुडिया किस काम की, वह दवा से भरी बोतल किस मतलब की और उस डाक्टर या वैद्य का क्या किया जाय जो रुग्णावस्था मे रोगी के काम नहीं आता ! जो वैद्य और डाक्टर वक्त पर काम नहीं आए उसकी पुड़िया रद्दी की टोकरी मे फैकने काबिल है। उन वैद्यो और डाक्टरो को चिकित्सा करने का कोई अधिकार नही, जब कि रोगी दुःख पा रहा है और वे गुलछर्रे उड़ा रहे है।

पटियाला में एक डाक्टर ने मुझ से कहा था कि यहां डाक्टरो को ट्रेनिग दी जाती है। उन्हे सिखाया जाता है कि यदि किसी का बच्चा रोगी है, महान् कष्ट मे है, तो यही समझो कि यह मेरा बच्चा है। अर्थात् जैसे पिता अपने पुत्र को रोगी और सकट ग्रस्त सुन कर झट दौड़ कर चला जाता है, करने की बातें सब करता है, इलाज आदि करवाता है और उसे तसल्ली देता है डाक्टर को प्रत्येक बालक के प्रति ऐसा ही वर्त्ताव करना चाहिए। अथवा जिसका वृद्ध पिता बिमार है, वह पुत्र अपने पिता की भरसक सेवा करता है, यथोचित उपचार करता कराता है, यहाँ तक खाना-पीना छोड़ कर शुश्रूषा मे तन्मय हो जाता है इस प्रकार अगर कोई मनुष्य बीमार है तो डाक्टर यही समझे कि उसके माता-पिता बीमार हैं। ऐसा समझ कर ही डाक्टर को रोगी की सहायता करनी चाहिए। वास्तव में इस प्रकार की शिक्षा बहुत उपयोगी है। जब तक डाक्टरो मे दया की भावना नही आयेगी, वे रोगी को अपना आत्मीयजन न समझेगे, तब तक वे सफल और आदर्श चिकित्सक नहीं हो सकते मगर कहां है ऐसे आदर्श चिकित्सक आज इस देश मे ? कोई-कोई डाक्टर तो ऐसे है कि उनसे बीमार को देखने के लिए कहा जाय तो उत्तर मिलता है—हम अभी नही आ सकते क्योकि यह हमारे आराम का समय है।

मै यह कहता हूँ कि वह गुरु, धर्म और शास्त्र किस काम के है जो कठिन समय पर किसी के काम न आवे। असली दया वही है जो व्यावहारिक हो और जो जीवन मे काम आने वाली हो जो दया काम मे न आती हो, वह किस काम की? मरने वाला मर रहा हो और कोई कहे कि दया तो मेरे दिल मे है, तो उस दया का क्या बनाया जाय? वह दया तो कब्रिस्तान मे दबी पडी है। अगर मुर्दा काम मे आवे तो तेरी दया भी काम मे आवे!

सच्चे दयावान् की दया दिल मे दबी नही रहेगी। वह समय पर प्रकट हो कर ही रहेगी। वह जीती-जागती दया की मूर्ति, चरम शरीरी, भावी तीर्थंकर पार्श्वकुमार, जो इसी भव मे समस्त कर्मों का क्षय करके, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होकर मोक्ष मे जाने वाले हैं, उन्होने तापस से दयाप्रेरित होकर कहा—'अहो अकज्जं' अहो अकज्जं' यह कर उन्होने हर बशर के दिल को हिला दिया। उन शब्दो को सुन कर हर एक का दिल उनकी तरफ खिच गया। लोगो ने राजकुमार से पूछा—यह क्या कहा? क्या अनर्थ हो गया? क्या अकार्य हुआ? यह चीज उन लोगो को बाहरी आंखो से नजर आने वाली नहीं थी। वह तो अन्दरूनी ज्ञान-चक्षुओं से ही दिख सकती थी। मगर वहां तो सब चमड़े की आंखें लेकर आये थे। उन्हे वह कैसे दिखती?

पार्श्वकुमार ने कहा—अरे लोगो! घोर अनर्थ हो रहा है। देखो, इस लक्कड़ मे नाग-नागिन का जोड़ा जल रहा है। दोनो आग मे झुलस रहे है, तड़फ रहे है और बाबाजी अपना धर्म कर रहे हैं!

कुमार ने आगे फिर कहा—लोगो, किस मूढ़ता मे फंसे हो? लक्कड़ में नाग-नागिन जल रहे हैं, इन्हे जल्दी बचाओ।

जैसे माता ने तुम्हे पाला है, वैसे ही इन्हे भी पाला है। हमारी तरह यह भी वेदना का अनुभव करते है।

कुमार का कथन सुनकर तापस और उसके कुछ कट्टर भक्त गर्म हो जाते है और कहते है—तुम योगियो के जीवन को क्या जान सकते हो कुमार ! राजमहल मे मौज करो।

लोगो को क्या पता कि राजकुमार के रूप मे पार्श्वकुमार कितने ज्ञानी है। वह उपहास नही कर रहे थे। वह तो सत्य की पुकार थी। कुमार के रूप मे करुणा की ध्वनि थी।

कुमार ने कहा--भद्र पुरुषो ! जल्दी करो और नाग-नागिन को बाहर निकालो।

लक्कड़ सावधानी से फाड़ा गया तो उसमे से नाग-नागिन का जोड़ा निकल पड़ा। दोनो तड़फ रहे थे, आर्तध्यान और रौद्रध्यान मे पड़े हुए थे और जिन्दगी की अन्तिम सांसे ले रहे थे। लोगो ने यह हाल देखा तो चकित रह गये। कहने लगे—सच-मुच गजब हो गया ! इस योगी को इतना भी ध्यान नहीं, ज्ञान नही कि इस लक्कड़ में साप का जोड़ा जल रहा है।

मगर तापस को ज्ञान होता तो वह लक्कड़ ही क्यो जलाता ? वह इन्द्रियो का संयम करता, तप त्याग ध्यान जप और चिन्तन-मनन करता सर्दी लगती तो कम्बल ओढ़ सकता था। मगर ज्ञान न होने से उसने ऐसा किया।

तापस ने भी यह दृश्य देखा। मगर जिसकी बुद्धि विपरीत होती है, उसके विचार भी विपरीत दिशा मे हो जाते है। उसे अपने विचारहीन कृत्य के लिए खेद नहीं हुआ, उलटा यह विचार

आया कि राजकुमार ने मेरा अपमान किया है! मगर वहाँ तो दया का प्रश्न था। अपनी ही भूल के कारण तापस को शर्मिन्दा होना पड़ा था।

इस घटना के पश्चात् लोगो को योगी के प्रति श्रद्धा नहीं रही। उसे अपना डेरा-डंडा उठाकर बनारस से कूच करना पड़ा।

वह योगी था और राजकुमार कुमारावस्था में थे। किन्तु याद रखिए, योगी और भोगी किसी भी बाने मे और किसी भी वेष मे हो सकते है। मृगापुत्र राजकुमार थे, जिन्हे युवराज पद प्रदान किया जा चुका था। वे सोना-चांदी के महलो मे, रानियों के साथ चौपड़-पांसे खेल रहे थे। जीवन के गुलछर्रे उड़ा रहे थे। किन्तु ज्यो ही उनकी दृष्टि नीचे सड़क पर चलते हुए एक महान् योगीराज मुनि पर पड़ी कि तत्काल उनका जीवन योग मे परिवर्त्तित हो गया। उनके विषय मे शास्त्र पुकारता है—'जुवराया दमीसरे' अर्थात् जो युवराज थे, वे तो इन्द्रियो को दमन करने वालो मे प्रधान थे, योगीराज थे।

मानवीय आमोद-प्रमोद मे लिप्त प्रतीत होने वाले राजकुमार महलो मे मौज कर रहे है। विलास का वातावरण चहुं ओर फैला है। रंग महल मे रंगरेलियाँ हो रही है। सब कुछ हो रहा है, मगर युवराज के लिए कुछ भी नहीं है। वह तो उस कमल के समान है जो—

जहा पोम्मं जले जाय, नोवलिप्पइ वारिणा।

कमल जल मे उत्पन्न होता है, जल मे वृद्धि पाता है और जल मे ही रहता है, मगर जल से लिप्त नहीं होता। राजकीय

वैभव और विलास युवराज की अन्तरात्मा का स्पर्श नहीं कर कर सकते। ज्ञानी उनकी आत्मा को टटोलते है और उनके मुख से निकल पड़ता है–'जुवराया दमीसरे।' कहिए राजमहल मे बैठेहुए को योगीराज का फतवा दे दिया ! मगर शास्त्र के अनुसार त्यागी कौन है ? जो अन्तरात्मा मे से वासना की जड़ो को उखाड़ कर फैंक देता है, वही सच्चा त्यागी हो सकता है। यही त्याग की सच्ची कसौटी है। त्याग किसी बाने मे नहीं रहता। कवि ने कहा है:-

बाना बदले सौ-सौ बार, बदले बान तो बेड़ा पार
सोने-चांदी चोंच मढाई, करा हंस की लार।
तदपि कागा बानन छोडे, इत सत संग लाचार।
बाना बदलो ॥

आज बाना बदलने वाले बहुत हैं किन्तु बान बदलने वाले विरले ही होते है। देखो, एक बान माचे की होती है और एक बाण वह होता है जो मनुष्य पशु या पक्षी को घायल कर देता है। परन्तु यहां बान का अर्थ है–- आदत या संस्कार। तो जीवन मे घर किये हुए कुसंस्कारो का त्याग करने वाले बहुत कम होते है। कौवे की सोने-चांदी से चोंच मढ़ दी। सारे शरीर पर चांदी का पत्तर चढ़ा दिया और हंस के समान सफेदझक बना दिया। फिर उसे छोड़ा, यह समझ कर कि अब इसने हंस का बाना धारण कर लिया है, हंस के समान ही व्यवहार करेगा। किन्तु इतना सब होने पर भी, बाह्य परिवर्त्तन हो जाने पर भी उसने अपनी बान नहीं बदली। वह उड़ता है और गंदगी मे चोंच डालता है! उसके ऊपर सफेदी चढ़ गई तो क्या हुआ, भीतर के संस्कार तो नहीं बदले! ऊपर पत्तर चढ़ गया, मगर भीतर तो ज्यो का ज्यो है ! ऐसी स्थिति मे भीतर का

चित्र बदले तो कैसे बदले ! आज कितने ही लोग साधु बन जाते हैं, ऊपरी परिवर्तन कर लेते है. किन्तु अन्दर की कुप्रवृत्तियो का परित्याग करके आन्तरिक परिवर्त्तन नही करते। इससे क्या होना जाना है ! कहा है—

हरेक माथे तिलक लगाय चला दरबार में।
माला लीधी हाथ कतरनी काख में,
हरेक मीठा बोले बोलके टहुका मोरका,
पिएहाबाजिंद चले साध की चाल लछन हैं चोर का ॥

किसी ने मस्तक पर तिलक लगा लिया, किसीने जनेऊ धारण करलिया, किसी ने मुहपत्ती बांध ली, किसी ने सिरपर जटाजूट धारण कर लिया, मगर यह सब ऊपर के चिह्न मात्र हैं—साइन बोर्ड है। इन चिह्नो से मोक्ष नही मिलता। याद रखना, जैनसिद्धान्त कहता है—स्वलिगसिद्धा, अन्यलिग सिद्धा गृहस्थलिगसिद्धा। तात्पर्य यह ने कि जैन वेष को धारण करने वाला भी मोक्ष पा सकता है और अन्य वेष के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है, यहां तक कि गृहस्थ का वेष भी मोक्ष को रोक नहीं सकता। वेष कोई भी हो, जिसने राग-द्वेष को समूल नष्ट कर दिया और समस्त कर्मो को दूर कर दिया, वही मोक्ष का अधिकारी है।

बाह्य लिग का मोक्ष के साथ कोई संबंध नही है। लिंग क्या है ? एक समय केसी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा कि आपके वस्त्र सफेद है और मेरे वस्त्र रगीन है। दोनो का उद्देश्य समान हैं—दोनो मोक्ष की साधना के लिए उद्यत है, फिर इस वेष की विभिन्नता का क्या कारण है ?

गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—

पच्चयत्थ च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थ महणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥
अह भवे पइन्ना उ मोक्खसब्भूयसाहणा ।
नाणं च दसणं चेव, चरित्त चेव निच्छए ॥

उत्तराध्यन, अ० २३, ३२,३३

केसी स्वामी कहते है--दोनो परम्पराओ का उद्देश्य एक ही है । फिर कपड़ो मे अन्तर क्यो है ? गौतम ! क्या तुम्हे आश्चर्य नही होता है ? तब गौतम ने उत्तर दिया—लिग (वेष) लोगो के विश्वास और संयमयात्रा के निर्वाह के लिए है । वेश से साधु की पहचान हो जाती है कि यह असुक परम्परा के है । मोक्ष तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना मे है ।

लोगो को मालूम रहे कि मुक्ति आत्मशुद्धि से होगी, वेष से नही होगी । ज्ञान-दर्शन की पोटली काले-पीले अथवा श्वेत वस्त्रो मे नही बँधी रहती । वेष तो लोक-पहिचान के लिए है । मोक्ष उससे नही होता । मोक्ष का मार्ग तो ज्ञान दर्शन और चारित्र से ही संभव है । काले कपड़े पहन कर मिठाई खाने पर भी मुंह मीठा हो जायगा और सफेद कपड़े पहन कर खाने से भी । इसीप्रकार जिसके राग-द्वेष आदि आन्तरिक विकारो का शमन हो गया है, वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है चाहे किसी भी रग के वस्त्र पहने हो या सभी वस्त्रो को त्याग कर दिगम्बर हो गया हो । किसी ने अल्प वस्त्र रखे और किसी ने सब ही फैंक दिये, किन्तु न वस्त्रो को फैंक देने से ही मोक्ष मिलता है और न अल्प वस्त्र रखने से ही । जहर की पोटली को फैंकने से मोक्ष मिलता है ।

जिसने काक की भाँति गंदगी-निन्दा-चुगली आदि-का त्याग नही किया, उसका कल्याण होने वाला नही । जो दूसरों

के दुर्गुण देखता है, अपने आपको नही देखता, अपने दोषो की तरफ दुर्लक्ष्य करता है, वह निष्कलंक नहीं बन सकता। दूसरे के दुर्गुणो को देखने वाला दुर्गुणी बन जाता है और सद्गुणो को देखने वाला सद्गुणी बन जाता है।

प्रभु ने अपने दोषो को देखने का आदेश दिया है, पराये दोषो को देखने का नहीं। पर आज उलटी गंगा बह रही है। लोग परकीय दोषो की आलोचना करते है। अपने दोषो की परवाह ही नहीं करते। यह मोक्ष का मार्ग नहीं है। अपने दोषो को देखने और त्यागने से ही कल्याण होता है :

अभिप्राय यह है कि आत्मकल्याण के क्षेत्र मे ऊपरी बातो से काम नही चलता है। कहा है—

हरिक बगुला उभा ध्यान धरत है नीर में,
लोग जाने वाको चिरा बसे रघुवीर में।
हरेक जल के बीच करे मच्छी की घात रे,
पिण हा वाजिन्द दगाबाज को नाय मिले रघुनाथ रे॥

यह चार सौ बीस की बाते, यह ब्लेक मार्केट की घाते, धर्ममार्ग मे काम नहीं आ सकती।

कोई कुटिला और कुशीला नारी सोलहो शृंगार सजकर अपने पति को रिझाना चाहती है, पर उसकी दुश्चरित्रता को जानने वाला बुद्धिमान् पति क्या उसके शृंगार से रीझ सकता है? नही। वह रीझेगा तो उसके पतिव्रत धर्म से ही रीझेगा।

पतिव्रता फाटा लता, नही गले में पोत।
भरी सभा मे रोती शोभे, हीरा जैसी जोत॥

पतिव्रता स्त्री के वस्त्र भले ही फटे-पुराने हो, गले मे गहने न हो, फिर भी वह अपने पतिव्रत धर्म के महान् प्रभाव से नारी-समूह मे हीरे की ज्योति की तरह शोभायमान होती है।

तो मै कह रहा था कि एक टांग से खड़ा होकर 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं' कह कर बगुलाभक्ति करने से काम नहीं चल सकता। आन्तरिक और सच्ची भक्ति ही काम आती है। वह पति बड़ा सयाना है, चतुर है। वह बाईजी की सभी करतूतो को जानता है। वह समझता है कि यह शृंगार धोखा है और मुझे धोखे मे रखने के लिए सजा गया है। वह इस प्रकार रीझ नहीं सकता। उसे भुलावे मे रखने का प्रयत्न करना स्वयं भुलावे मे रहना है। शास्त्र कहता है—

सोही उज्जुभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

अर्थात्—जिसकी आत्मा शुद्ध है, सरल है, निष्कपट है, उसी मे धर्म की स्थिति होती है।

बच्चे से पूछा जाय कि तेरे पिता ने, तेरी माता को क्यो पीटा ? तो बच्चा सहज भाव से ज्यो की त्यो घटना सुना देगा, क्योंकि उसने अभी तुम्हारे कॉलेज मे प्रवेश नही किया है और उसने तुम्हारा महामंत्र नहीं सीखा है। तो जैसे बच्चा कहने योग्य और नहीं कहने योग्य—सभी बाते विना नमक-मिर्च मिलाये कह देता है, क्योकि उसका हृदय शुद्ध है, इसी प्रकार जो आत्माएँ शुद्ध और निष्कपट है, उनमे ही धर्म ठहरता है। अतएव धर्म को ठहराने के लिए हृदय शुद्ध होना चाहिए। कितनी ही सामायिक कर लो और चौवीसियाँ पढ़ लो किन्तु हृदय यदि शुद्ध नहीं हुआ है तो धर्म नही ठहरेगा। पहले राग-द्वेष की कालिमा को धो

डालिए और फिर देखिए कि थोड़ी सी धर्म करणी भी क्या गुल खिलाती है और कैसा रंग लाती है। अतएव आत्मिक शुद्धि की ओर ध्यान दो। देखो जमीन ठीक होगी तो वहां बीज पनपेगा वज्रभूमि मे डाला हुआ बीज उगता भी नही है, बल्कि सूर्य की आतापना से जल जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण में जलती हुई कषाय की आग धर्मक्रिया को भस्म कर देती है।

तो मै कह रहा था कि जिनके हृदय मे दया भगवती ठाठे मार रही थी, उन दया की जीती-जागती तस्वीर भगवान् पार्श्वनाथ ने, धर्म बन्धुओ! उन दो प्राणियो की रक्षा की।

जलता बचाया नागिन नाग, पारस उपकारियाजी महाराज!
मरी हुआ धरणेन्द्र, शासन रखवारियाजी पारसनाथ।

आज कल के राग नये ढग के होते है, परन्तु पुराने रागों मे मधुरता के साथ वैराग की झलक भी होती है।

सज्जनो! तुम जिस बालम के इन्तजार में हो क्या वह बाहर से आने वाला है। नही वह तुम्हारे अन्दर ही विराजमान है। हां तो पार्श्वकुमार ने मरते हुए नाग-नागिन के जोड़े को पंच परमेष्ठी-मंत्र का शरण दिया था। नाग-नागिन के पंचेन्द्रिय थे वे समझ रहे थे कि हमारा कोई उद्धार करने वाले हैं। ये 'तिण्णाणं, तारयाणं' है। इनके मुख से जो ध्वनि निकल रही है, बस यही हमारा कल्याण करेगी। मरते समय उन्हे उस ध्वनि पर विश्वास हो गया।

अतएव महामन्त्र को श्रवण करने के प्रभाव से वे मर कर धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में देव हुए।

उधर कुमार पार्श्वनाथ ने दीक्षा ली और ध्यान मे लीन हो गए। कमठ तापस अज्ञान-तप के कारण मेघमाली देवता हुआ। उसने वैर का बदला लेने के लिए घोर वर्षा की और भगवान को उसमे डुबा देने का विचार किया। उसने यह तो सोचा नहीं कि इन्होने मुझे हिंसा से बचाकर सन्मार्ग दिखलाया है बल्कि उलटा ही सोचा। किन्तु उसी समय धरणेन्द्र और पद्मावती आ पहुंचे। इन्होने भगवान् के नीचे चबूतरा बना दिया और नाग का रुप धारण कर के ऊपर फन से छत्र कर दिया। ज्यो-ज्यो पानी बढता जाता था, चबूतरा ऊँचा होता जाता था। मेघमाली देवता उनका बाल भी बांका न कर सका।

भद्र पुरुषो ! संसार मे ४४ सौ मंत्र सुने जाते है। उनमे सर्वोपरि मंत्र नमोकार मंत्र है। दूसरे मंत्र द्रव्य विष को ही दूर करते है किन्तु कर्म विष को नष्ट करने वाला तो यही नमस्कार मंत्र है। जब सुभद्रा पर सकट पड़ा और सुर्शदन सेठ को शूली पर चढाया गया तब यही मंत्र सहायक हुआ था। इस प्रकार जो नमस्कार मंत्र का जाप करते है वे समस्त दुःखो से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२५-७-५६



सम्यक्त्व का उदय

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः।
वीरे णाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,—
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः
श्री सिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्न त्रयाराधका.
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित भद्र पुरुषो ! तथा देवियो ! शारीरिक व्याधि से पीडित होने के कारण आज व्याख्यान-सभा मे आने में देरी हो गई है। यद्यपि मेरी स्थिति आज इस योग्य नहीं थी कि मै यहां आता और प्रवचन करता, मगर आप व्यापारी भली भांति जानते है कि एक दिन ग्राहक लौट जाय तो दोबारा आना कठिन

होता है। इसके अतिरिक्त, यह भी सोचता हूं कि इस शरीर से जिन शासन की सेवा के लिए जितना काम लिया जा सके, ले लेना ही लाभदायक है।

सज्जनो! यह बात अनुभवसिद्ध है और इसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक समझदार प्राणी अपने जीवन को विकसित देखना चाहता है। कोई अपने आपको किसी से पीछे नहीं देखना चाहता। समान रूप से सब अपने को अग्रगण्य ही रखना चाहते है। किन्तु किसी भी कार्य की सिद्धि प्रयत्न करने से, पुरुपार्थ करने से होती है, केवल अभिलाषा या मंसूबे करने से नहीं। नीतिकार कहते है—

उद्योगेन सिद्ध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः।

कार्यों की सिद्धि उद्योग करने से होती है, मनोरथ करने से नहीं। इस देश के विषय मे तो लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है कि-मारवाड़ मंसूबे डूबी!' सचमुच जो मंसूबो के मनोहर महलो मे विचरण करेगा और उनकी पूर्ति के लिए यथोचित उपाय नहीं करेगा, डूबने के अतिरिक्त उसके लिए अन्य मार्ग ही कौन-सा है? वही मनुष्य सफलता पाता है जो मर्द प्रथम अपनी शक्ति और साधनो की मर्यादा का विचार करके किसी कार्य को करने का संकल्प स्थिर करता है। तत्पश्चात् उसके लिए साधन जुटाता है और फिर उन साधनो का बुद्धिमत्ता के साथ प्रयोग करता है। ऐसा करने से कार्य सिद्ध होता है। अगर मनोरथ मात्र से सिद्धि मिल जाती तो कहना ही क्या था! किसी के मन मे आता कि मै सेठ बन जाऊं तो बन जाता। कोई सोचता-मुझे स्वर्ग या मुक्ति की प्राप्ति हो जाय तो वह चटपट स्वर्ग-मोक्ष मे पहुँच

जाता। किन्तु इस वास्तविक जगत् मे मदारी का छूमन्तर काम नही आता कि छू किया और बन गया रुपया! ऐसे रुपयों से आपका काम चलने वाला नही है। परिश्रम से बनाया और कमाया रुपया ही आपके काम आ सकता है।

विचारो की उड़ान मे उड़ने से ध्येय की पूर्ति नही होती। विचारो से आप सातवे आसमान से भी ऊपर उड़ सकते है, मगर वास्तव मे आप एक इंच भर भी ऊचे नही उठ सकते, इसी धरातल पर रहेगे। चाहे कोई लौकिक कार्य हो या लोकोत्तर, सभी की सिद्धि के लिए प्रयत्न अपेक्षित है। जब साधारण-सा लौकिक कार्य भी चाह मात्र से नही होता और उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो फिर मोक्ष जैसा महान् से महान् ध्येय विना प्रयत्न के किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? यही कारण है कि उसकी सिद्ध के लिए ज्ञानियो ने साधना की है और हम लोगों को बतलाई भी है।

साधन के अभाव मे साध्य सिद्ध नहीं होता। जैसे द्रव्य के अभाव मे व्यापार नही हो सकता, उसी प्रकार मोक्ष के साधनो के अभाव मे मोक्ष नही मिल सकता। ज्ञानी पुरुषो ने मोक्षप्राप्ति के अनेक साधन बतलाये है और उनसे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु उन सब साधनो मे सम्यक्त्व प्रथम है, सम्यक्त्व मोक्ष-महल का प्रथम सोपान है। उस पर पहुँचे विना आगे कदम नहीं बढ़ाया जा सकता।

सम्यक्त्व हमारी साधना का मूल मन्त्र है। उसके विना गाड़ी अगाड़ी नहीं चल सकती। यदि खींचतान कर गाड़ी आगे चला लोगे तो वह रास्ते में टूट जायगी। कई लोग सम्यक्त्व के विना

ही आगे चल पड़े तो वे इच्छित ध्येय तक नहीं पहुंच पाये। वे सम्यक्त्व रूप साधन नहीं जुटा सके, अतएव पथभ्रष्ट हो गये।

सम्यक्त्व के बिना समस्त ज्ञान और सम्पूर्ण साधना-चारित्र मिथ्या है, निरर्थक है। कोई दर्शन शास्त्र का कितना ही बड़ा पन्डित क्यो न हो, बडे से बड़ा तत्ववेत्ता हो, किन्तु यदि उसकी आत्मा सम्यक्त्व से रहित है, तो अध्यात्मशास्त्र कहता है कि उसका ज्ञान, अज्ञान है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग का साधक नही है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव मे की जाने वाली घोर से घोर और कठोर से कठोर तपश्चर्या भी एक प्रकार से विडम्बना मात्र है। उससे ससार की वृद्धि हो सकती है, मुक्ति नहीं। सुखाभास मिल सकता है, सुख नहीं। स्वर्ग प्राप्त हो सकता है, मोक्ष नहीं। वह तपस्या, वह ध्यान, मौन, देहदमन आदि क्रिया आत्मा को शाश्वत शान्ति की ओर नही ले जाती। अतएव जो मुमुक्षु हैं, सच्चा सुख चाहते है, और अपनी आत्मा को परमात्मा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, उनका सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही है कि वे सम्यक्त्व को प्राप्त करे और उसे पुष्ट करें। सम्यक्त्व की महिमा का गान करते हुए एक विद्वान् ने कहा है—

नरत्वेऽपि पशूयन्ते, मिथ्यात्वग्रस्तचेतसः।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते, सम्यक्त्वग्रस्तचेतनाः॥

जिनका अन्तःकरण मिथ्यात्व से ग्रसित है, वे मनुष्य होते हुए भी पशु के समान है और जिनकी चेतना सम्यक्त्व से सुशोभित है, वे पशु होकर भी मनुष्य के समान है।

इस कथन में किंचित् भी अतिशयोक्ति नहीं है। मनुष्य और पशु मे अन्तर क्या है? दोनो मे चेतनातत्त्व समान रूप से विद्यमान है। आहार निद्रा आदि सभी क्रियाएं पशु भी करता

है और मनुष्य भी करता है। सुख-दुःख की
होती है। इस प्रकार बहुत-सी समानता
में अन्तर तो है ही। वह अन्तर
ज्ञान का। मनुष्य से विवेक की
इस दृष्टिकोण से जब
मिथ्यादृष्टि मनुष्य
सम्यग्दृष्टि पशु की
अतएव वह विवेकवान्
मनुष्य मे वह विवेक नहीं हो
का धारक होने पर भी पशु के स

अष्टादश दोषो से रहित वीतरा
धारक निर्ग्रन्थ गुरु और वीतरागप्ररूपित द
श्रद्धा रखना, रुचि और प्रतीति होना सम्यक्
सम्यक्त्व की प्राप्ति कषायो की मन्दता, राग-द्वेष का
पर होती है। जहाँ तीव्रतम रागद्वेष रूपी दावानल ध
हो, वहाँ समकित सुरक्षित नहीं रह सकता।

जैनशास्त्रो मे मूल कषाय चार है—क्रोध, मान, मा
और लोभ। इनमे से प्रत्येक कषाय के, तीव्रता और मन्दता
आधार पर चार-चार भेद किये गये हैं। वह इस प्रकार है

(१) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लो
(२) अप्रत्याख्यानी ,, ,, ,,
(३) प्रत्याख्यानी ,, ,, ,,
(४) संज्वलन ,, ,, ,,

सब मिल यह होते है। इनकी
बता दी गई हैं, वालो को सु
स्वरूप ठीक त जाय।

आप लोग अकसर कहते हैं—'चाण्डाल चौकडो इकट्ठी हो गई है, अब खैर नहीं। कोई न कोई कुबुध कर ही बैठेंगे।' सो और कोई चाण्डाल-चौकड़ी वास्तव मे हो या न हो, परन्तु यह अनन्तानुबन्धी आदि कषायो की चौकड़ी अवश्य चण्डाल-चौकड़ी है। इन चारो चौकडियो की तीव्रता मे क्रमशः उतार-चढाव होता है। अनन्तानुबधी चौकड़ी सब से अधिक तीव्र है। अप्रत्याख्यानी उससे कुछ हल्की, प्रत्याख्यानी उससे भी हल्की और संज्वलन उससे भी हल्की है।

अनन्तानुबधी कषाय मे इतनी उग्रता है कि इसके वशीभूत आत्मा मे सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह कषाय दुतरफा मार मारने वाला कषाय है। एक ओर चारित्र का घात करता है तो दूसरी ओर सम्यक्त्व का भी। अतएव यह आत्मा का सब से बड़ा शत्रु है।

अनन्तानुबंधी चौकडी के क्रोध को पत्थर की लकीर की उपमा दी जाती है। पत्थर फट जाय या उसमे दरार पड़ जाय तो फिर उसका मिलना संभव नहीं। इसी प्रकार यह क्रोध अमिट होता है। इसके संस्कार जीवन के अन्तिम समय तक नहीं मिट पाते। कोई कितना ही समझावे कि कषायों का परिणाम कभी सुखद नही होता, कषाय संसार-परिभ्रमण के प्रधान कारण है, तथापि अनन्तानुबंधी क्रोध से आविष्ट जीव समझ नहीं सकता। क्रोध से जिसकी आत्मा तवे की तरह तपी होती है, उस पर उपदेश या सुशिक्षा के शीतल बिन्दु कुछ भी प्रभाव नहीं दिखला सकते। अनेक प्रकार के अंधे गिने गये हैं—क्रोधान्ध, मानान्ध, मायान्ध, लोभान्ध, रागान्ध, द्वेषान्ध, द्रव्यान्ध, भावान्ध। जैसे अंधा मनुष्य कुमार्ग से बच कर सन्मार्ग को नहीं देख सकता,

है और मनुष्य भी करता है। सुख-दुःख की अनुभूति भी दोनों को होती है। इस प्रकार बहुत-सी समानताओ के बावजूद भी दोनों में अन्तर तो है ही। वह अन्तर है—हेय-उपादेय के विशिष्ट ज्ञान का। मनुष्य मे विवेक की प्रकृष्टता होती है, पशु मे नहीं। इस दृष्टिकोण से जब विचार करते है तो सम्यग्दृष्टि पशु, मिथ्यादृष्टि मनुष्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होता है। सम्यग्दृष्टि पशु की अन्तरात्मा मे विवेक की जागृति होती है, अतएव वह विवेकवान् मनुष्य के समान है और मिथ्यादृष्टि मनुष्य मे वह विवेक नहीं होता, अतएव वह मनुष्य के आकार का धारक होने पर भी पशु के समान है।

अष्टादश दोषो से रहित वीतराग देव, पांच महाव्रतो के धारक निर्ग्रन्थ गुरु और वीतरागप्ररूपित दयामय धर्म पर प्रगाढ श्रद्धा रखना, रुचि और प्रतीति होना सम्यक्त्व कहलाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति कषायो की मन्दता, राग-द्वेष की क्षीणता होने पर होती है। जहाँ तीव्रतम रागद्वेष रूपी दावानल धधक रहा हो, वहाँ समकित सुरक्षित नहीं रह सकता।

जैनशास्त्रो मे मूल कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। इनमे से प्रत्येक कषाय के, तीव्रता और मन्दता के आधार पर चार-चार भेद किये गये है। वह इस प्रकार हैं—

(१) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ।
(२) अप्रत्याख्यानी ,, ,, ,, ,,
(३) प्रत्याख्यानी ,, ,, ,, ,,
(४) संज्वलन ,, ,, ,, ,,

सब मिल यह सोलह कषाय होते है। इनकी चार चौकड़ियाँ बना दी गई है, जिससे समझने वालो को सुविधा रहे और उनका स्वरूप ठीक तरह समझ मे आ जाय।

आप लोग अकसर कहते है—'चाण्डाल चौकड़ी इकट्ठी हो गई है, अब खैर नहीं। कोई न कोई कुबुध कर ही बैठेगे।' सो और कोई चाण्डाल-चौकड़ी वास्तव मे हो या न हो, परन्तु यह अनन्तानुबन्धी आदि कषायो की चौकडी अवश्य चण्डाल-चौकडी है। इन चारो चौकडियो की तीव्रता मे क्रमशः उतार-चढ़ाव होता है। अनन्तानुबधी चौकड़ी सब से अधिक तीव्र है। अप्रत्याख्यानी उससे कुछ हल्की, प्रत्याख्यानी उससे भी हल्की और संज्वलन उससे भी हल्की है।

अनन्तानुबधी कषाय मे इतनी उग्रता है कि इसके वशीभूत आत्मा मे सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह कषाय दुतरफा मार मारने वाला कषाय है। एक ओर चारित्र का घात करता है तो दूसरी ओर सम्यक्त्व का भी। अतएव यह आत्मा का सब से बडा शत्रु है।

अनन्तानुबंधी चौकड़ी के क्रोध को पत्थर की लकीर की उपमा दी जाती है। पत्थर फट जाय या उसमे दरार पड़ जाय तो फिर उसका मिलना संभव नहीं। इसी प्रकार यह क्रोध अमिट होता है। इसके संस्कार जीवन के अन्तिम समय तक नहीं मिट पाते। कोई कितना ही समझावे कि कषायो का परिणाम कभी सुखद नहीं होता, कषाय संसार-परिभ्रमण के प्रधान कारण है, तथापि अनन्तानुबंधी क्रोध से आविष्ट जीव समझ नही सकता। क्रोध से जिसकी आत्मा तवे की तरह तपी होती है, उस पर उपदेश या सुशिक्षा के शीतल बिन्दु कुछ भी प्रभाव नही दिखला सकते। अनेक प्रकार के अंधे गिने गये है—क्रोधान्ध, मानान्ध, मायान्ध, लोभान्ध, रागान्ध, द्वेषान्ध, द्रव्यान्ध, भावान्ध। जैसे अंधा मनुष्य कुमार्ग से बच कर सन्मार्ग को नहीं देख सकता,

वह हितकर-अहितकर पथ का निर्णय नही कर सकता, उसी प्रकार क्रोधावेश मे आया पुरुष उचित-अनुचित, हित-अहित एवं कृत्य अकृत्य का विवेक नहीं कर सकता। वह कहता है—चाहे कुछ भी क्यो न हो जाय, घर का दिवाला ही क्यो न निकल जाय, एक बार मुकदमा लड़कर इसे मजा चखाये बिना नहीं रहूँगा।

इसी प्रकार मान भी मनुष्य को बेभान बना देता है। मानव के मन मे जब मानचंदजी आसन जमाकर विराजमान हो जाते है, उस समय वह आसमान मे उड़ने लगता है। वह जमीन पर पाँव नही रखता। उससे कोई सीधी तरह, नम्रता के साथ बात करता है, तो वह धन के, परिवार के, माया के, सत्ता के या यौवन के उन्माद मे पागल बना हुआ मनुष्य उससे सीधी तरह बात नही करता। अभिमान करने वाले मनुष्य के तकब्बर की क्या दशा होती है?

जोशो खरोश में देखिए, खूबी बयान की।
पूछी जमीन की तो बतलाई आसमान की॥

अभिमानी मनुष्य अपने आपको कितना ही बडा क्यों न समझे, वह दूसरो की दृष्टि मे हीन और तुच्छ ही प्रतीत होता है। लोग भली-भांति जानते है कि—

सम्पूर्ण कुम्भो न करोति शब्द-मर्धो घटो घोषमुपैति नूनम्।
विद्वान् कुलीनो न करोति गर्वं, गुणैर्विहीना बहुजल्पयन्ति॥

अर्थात्-परिपूर्ण भरा हुआ घड़ा आवाज नहीं करता, अधभरा ही आवाज करता है। इसी प्रकार जो मनुष्य वास्तव में विद्वान और कुलीन है, वह अपनी विद्या-बुद्धि आदि का गर्व नहीं करता। जो गुणो से हीन होते है वही लोग बहुत बड़-बड़ाते है।

तात्पर्य यह है कि अभिमान आत्मा का शत्रु है। वह मनुष्य को विवेक विकल बना देता है। अभिमानी अकारण ही अनेको को अपना शत्रु बना लेता है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिन गुणो के कारण मनुष्य की आत्मा ऊँची उठ सकती है, वही गुण अभिमानी के अधःपतन के कारण बन जाते है। इस प्रकार अभिमान अमृत को भी विष बना देता है। अतएव समझदार पुरुषो का कर्त्तव्य है कि अभिमान से दूर रहे। नम्रता प्रतिष्ठा प्रदान करती है, मान अपमान का जनक है। किन्तु मान से अंधा हुआ मनुष्य इस तथ्य को नहीं देख पाता, इसीलिए अनेक प्रकार के अन्धो मे मानान्ध की भी गणना की गई है।

इसी प्रकार माया भी मनुष्य को अन्धा बना देती है। धोखा, दगाबाजी, छल, कपट, बचना आदि मायाचार के ही नाम है। जैसे मनुष्य माया को अर्थात् धन-दौलत को छिपा कर रखता है कि किसी को मालूम न हो जाय; यहाँ तक कि स्त्री और पुत्र को भी पता न चल जाय, इसी प्रकार मायावीजन अपने मनोभावो को छिपाने का प्रयत्न करते है। चाहते है कि हमारा कपट कही प्रकट न हो जाय। वे एक कपट को छिपाने के लिए अनेक कपट सेवन करते है। मगर अन्त तक उसे कैसे छिपाया जा सकता है? कहा है—

कह रहा यह आस्मां, कुछ समय का फेर है।
पाप का घट भर चुका, अब डूबने की देर है॥

कपट अनादि काल से आत्मा के साथ लगा है और उसका घोर अहित कर रहा है। साधारण मनुष्यो की तो बात ही

क्या, तीर्थंकर जैसे महान् आत्माओ के जीवन मे भी इसने गड-बड़ पैदा कर दी है। जितने भी तीर्थंकर हुए, सब पुरुष ही हुए और पुरुष ही प्रायः तीर्थंकर होते है। किन्तु इस अवसर्पिणी काल मे उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिनाथजी जामे से स्त्री हुए। वे धर्म के प्रवर्त्तक हुए, केवली हुए, सब से कम छद्मस्त-अवस्था मे रहे और झट केवलज्ञान प्राप्त करने मे समर्थ हो गये, किन्तु जामा उन्हे स्त्री का मिला। दिन मे वे पुरुषो की सभा मे रहते थे और रात्रि मे स्त्रियो की सभा मे रहते थे।

यह उनके द्वारा, धर्म के नाम पर पूर्वभव में सेवन की गई माया का ही फल था। कपट करके अधिक धर्म सेवन करने से भी जब हीन पद की प्राप्ति होती है, तो लोक-व्यवहार मे छल-कपट करने वालो की क्या गति होगी? कपट करके उन्होने किसी को कष्ट नही पहुंचाया था, किसी का कुछ छीन नहीं लिया था, वरन् कुछ अधिक तपस्या ही की थी। फिर भी उसका फल अनिष्ट ही हुआ। ऐसी स्थिति मे मायाचार करके दूसरो को लूटने वालो की, पाप करने वालो की क्या दशा होगी, यह कहने की कोई आव-श्यकता नहीं।

मल्लिनाथ भगवान् का उदाहरण चल पड़ा है तो उनकी जीवनी से मिलने वाले सद्बोध की तरफ भी हमे दृष्टि दौड़ानी चाहिए। केवली होने से पहले ही अवेदी अवस्था प्राप्त हो जाती है। मल्लिनाथ भगवान् भी वेद का सर्वथा क्षय करके ही केवली हुए थे। वेदहीन हो जाने पर वे साधुओ के साथ रहते तो क्या और साध्वियो के साथ रहते तो भी क्या हर्ज था? साधु को साध्वी के साथ और साध्वी को साधु के साथ न रहने का जो विधान है, वह विकार के निमित्त से बचने के लिए है। विकार की संभा-

वना-वही हो सकती है, जहाँ वेद की विद्यमानता हो। जैसे बीज के अभाव मे वेदजनित विकार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। फिर भी मल्लिनाथ भगवान् रात्रि मे स्त्रियो की सभा मे रहते थे। इसका क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहना होगा कि भगवान् ने लौकिक व्यवहार के संरक्षण के उद्देश्य से ही ऐसा किया था।

यहाँ वेद का अभिप्राय ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद न समझ लीजिए। यहाँ वेद का अर्थ है—एक विशेष प्रकार की अनुभूति, अभिलाषा या कामना। स्त्री का पुरुष के प्रति, पुरुष का स्त्री के प्रति अथवा दोनो का दोनो के प्रति जो आकर्षण होता है, वह वेद कहलाता है। अर्थात् स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा पुरुषवेद है, पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा स्त्रीवेद है, और दोनो के साथ रमण करने की कामना नपुंसकवेद है।

यह वेद मोहनीय कर्म के उदय से चित्त मे उत्पन्न होने वाला विकार है। वेदमोहनीय का उदय नौवे गुणस्थान तक ही रहता है, उससे आगे अवेद-अवस्था है। दसवे, ग्यारहवे, बारहवे, तेरहवे और चौदहवे गुणस्थानो मे वेद का उदय नहीं रहता, अतएव वहा निर्वेद-निर्विकार अवस्था प्राप्त हो जाती है।

गुणस्थान, आत्मा के विकास एव ह्रास की तरतमता के आधार पर योजित की हुई श्रेणियाँ है। आत्मा की भूमिकाएँ है। ज्यो-ज्यो आत्मा साधना के मार्ग मे अग्रसर होता जाता है, त्यो-त्यो वह मोहनीय कर्म की प्रकृतियो का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करता जाता है। ज्यो-ज्यों मोहकर्म का क्षय आदि होता

जाता है, त्यों-त्यों आत्मा की शुद्धि बढ़ती जाती है। इस प्रकार मोह और योग के निमित्त से होने वाली जीव की अवस्थाओं को गुणस्थान कहते है।

मोहनीय कर्म की मूल रूप मे दो प्रकृतियाँ है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्रमोहनीय। सम्यग्दर्शन का घात करने वाली प्रकृति दर्शनमोहनीय कहलाती है और चारित्र न होने देने वाली प्रकृति को चारित्रमोहनीय कहते है।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद है—(१) मिथ्यात्वमोहनीय (२) मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय। इनमे से पहले की दो प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन का सर्वथा घात करती है। सम्यक्त्व-मोहनीय सर्वथा घात नही करती, किन्तु उसे दूषित करती है। इसकी विद्यमानता में भी सम्यक्त्व हो जाता है।

चारित्रमोहनीय कर्म के दो भेद है—कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय। कषायमोहनीय के सोलह भेद है, जिन्हे चार चार चौकड़ियों के नाम से अभी बतलाया था, अर्थात्-अनन्ता-नुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

नोकषायमोहनीय नौ प्रकार का है— (१) स्त्रीवेद (२) नपुं-सकवेद (३) पुरुषवेद (४) हास्यनोकषायमो० (५) रतिनो० (६) अरतिनो० (७) शोकनो० (८) भयनो० और जुगुप्सा नोकषाय-मोहनीय।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के सब भेद अट्ठाईस हैं। मोहराज के यह अट्ठाईस महासैनिक हैं।

तात्पर्य यह है कि भगवान् मल्लिनाथ ने मोहनीयकर्म की इन सब प्रकृतियो को समूल नष्ट कर दिया था, अतएव वे निर्वेद अवस्था प्राप्त कर चुके थे, निर्विकार वीतराग दशा पर पहुँच गये थे, फिर भी रात्रि मे स्त्री सभा मे ही रहते थे, क्योकि शास्त्रो मे स्त्रीवेद शान्त या क्षीण हो जाने पर भी पुरुषो मे रहने की मर्यादा नही है। भगवान् ने सोचा कि यदि मैं इस मर्यादा का पालन नही करूंगा तो आगे के लोग मेरे उदाहरण को आगे रख करके संघ-व्यवस्था को भंग करेंगे और उस स्थिति मे अनर्थों का प्रवेश हो जायगा।

जैनो मे आज भी ऐसे सम्प्रदाय है जो इस मर्यादा को भलीभॉति और दृढतापूर्वक निभाते है। उन सम्प्रदायो मे, रात्रि के समय, साधुओ के स्थान पर साध्वियो एवं महिलाओं का और साध्वियो के स्थान पर साधुओ एवं पुरुषो का आना-जाना सर्वथा निषिद्ध है। मगर ऐसा भी सम्प्रदाय है, जिसमे रात्रि के दस बजे तक साध्वियो के स्थान पर पुरुषो का और साधुओ के स्थान पर स्त्रियो का जमघट लगा रहता है। यह कह कर मैं किसी के चारित्र पर कलंक नहीं लगाना चाहता, किसी को नीचा दिखाने की भी मेरी इच्छा नही है, मगर इस प्रकार की असर्यादा का परिणाम अवांछनीय ही निकल सकता है। अतएव इस प्रकार का सम्पर्क वर्जनीय ही है। ऐसा न होने से अनेक घटनाएँ घट चुकी है और घट सकती है।

अच्छा, अब मूल वात पर आ जाएँ। मल्लिनाथ भगवान् को स्त्रीवेद क्यों धारण करना पडा ? इसका कारण यह है कि उन्होने पूर्व भव मे कपट का सेवन किया था। वह कपट भी किसी का धन लूटने के लिए अथवा पौद्गलिक सुख पाने के लिए नहीं

किया था । बात यों हुई । मल्लिनाथजी के जीव ने अपने छह मित्रों के साथ दीक्षा अंगीकार की । वे मित्र उनके पूर्वभव के भी मित्र थे । सातों साधु बन कर तपस्या में तल्लीन हो गये । सभी एक साथ एक सी तपस्या करते थे । एक दिन उनके मित्रों ने उन से पूछा—महाराज तपस्या करनी है या पारणा करना है ? तब मल्लिनाथजी के जीव ने उत्तर दिया-औदारिक शरीर है, पारणा किये बिना कैसे काम चलेगा ? इसे टिकाये रखने के लिए पारणा करना आवश्यक है । बडो की आज्ञा मानना चाहिए, यह सोच कर छहो मुनियो ने पारणा कर लिया, मगर आपने पारणा करने के बदले बेला कर लिया । तत्पश्चात् बेला से तेला, तेला से चौला और पचोला करते रहे । उनके मन मे यह आगया कि यहा मेरा दर्जा ऊँचा है तो आगे भी ऊंचा रहना चाहिए । इस ऊंचाई की भावना ने उनकी तपस्या मे मलीनता उत्पन्न कर दी । इस कपट के कारण ही उन्हे तीर्थंकर भव में स्त्री का शरीर धारण करना पड़ा । केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन्होने उपदेश दिया—याद रखना, कोई कपट या दगाबाजी मत करना । मुझे स्त्री का जो शरीर धारण करना पड़ा है, उसका कारण कपट ही है ।

भद्र पुरुषो ! कपट का ऐसा फल होता है । जो लोग अकारण ही कपट करते है, कपट करके अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि करते हैं विषय-भोगो की प्राप्ति के हेतु षड्यंत्र रचते रहते है और माया का जाल बिछाते रहते हैं, उनकी क्या दशा होगी ? उनको कितना भयंकर दुष्फल भुगतना पडेगा ? याद रखना चाहिए-जो पुरुष होकर कपट करते है, उन्हे स्त्री होना पडता है । जो स्त्री होकर कपट करेगी, उन्हे नपुंसक-पर्याय धारण करनी पड़ेगी । नपुंसक होकर कपट करने वालों को तिर्यंच योनि के दुःख भोगने पड़ेंगे ।

जो वहाँ भी नही चूकेंगे, उन्हे नरकगति की असीम असह्य और अविराम व्यथाएं भोगनी पडेगी, ऐसी व्यथाएँ जिनका वर्णन सुनकर ही मनुष्य का दिल दहल उठता है, काया काँपने लगती है। इस प्रकार कपट से मनुष्य का पतन पर पतन होता चला जाता है। कहा भी है—

दगा किसी का सगा नही

कपट का दूसरा नाम माया है। जैसे-माया (धन) को लोग छिपा-छिपा कर रखते है, वैसे ही कपटी मनुष्य माया (कपट) को भी छिपाना चाहता है। सोचता है, कही मेरा भेद खुल न जाय। मगर ओ जीव, कब तक छिपी रहेगी तेरी यह पोल ! आखिर वह प्रकट हो कर हो रहेगी। क्योकि—

पाप छिपाया ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबी दूबी ना रहे, रुई लपेटी आग ॥

और भी—

जब तक तेरे पुण्य का, पहुँचा नहीं करार।
तब तक तुझको माफ है, अवगुण करे हजार ॥

मायाचार से होने वाले दुष्परिणामों से कौन अनभिज्ञ है ? सभी जानते है कि माया आत्मा का दारुण अहित करने वाली है, फिर भी जब मोह का चक्र चलता है तो आप सुध-बुध भूल जाते है। आपकी समझ बूझ व्यर्थ हो जाती है और दूसरे को कपट के जाल मे फँसाने का प्रयत्न करते हो। उस समय यह नही सूझता कि हम स्वय कपट के जाल मे फस रहे है ! तुम्हारे रचे जाल से दूसरे को हानि पहुँच सकती है और कदाचित् नहीं भी पहुंच सकती। दूसरा सावधान और सतर्क होगा तो तुम्हारे

बिछाये जाल को वह छिन्न-भिन्न कर सकता है, परन्तु अपने कपट से तुम स्वयं नही बच सकते। तुम्हे उसका कुफल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ेगा। अतएव स्मरण रक्खो कि दूसरे को धोखा देना अपने आपको धोखा देना है, दूसरे को ठगना अपने आत्मा को ठगना है और दूसरे के लिए जाल बिछाना स्वय जाल मे फंसना है। यह एक अटल और अभ्रान्त सत्य है।

आश्चर्य है कि कपट के कुफल को जानते हुए भी तुम कपट को परित्याग नहीं करते! अपनी आत्मा को क्यों इतना निर्बल मान बैठे हो? अनन्त वीर्य के स्वामी! तू अपनी शक्ति को जरा पहचान। हताश होकर, निर्वीर्य होकर क्यों विकारो के सामने सिर झुकाये बैठा है? पाप के आगे आत्मसमर्पण मत कर। इनके सामर्थ्य से अनन्तगुणित सामर्थ्य तेरे भीतर भरा है। प्रचण्ड पराक्रम कर। प्रबल इच्छाशक्ति को जागृत कर। संकल्प-बल को प्रकट कर। ऐसा करने पर तेरे अन्तर के समस्त विकार उसी प्रकार विनष्ट हो जाएगे जैसे तूफान आने पर मेघ बिखर जाते है।

हाँ, एक बात तुम जानते हो और मानते हो, मगर जीवन व्यवहार के समय भूल जाते हो। वह यह कि आत्मा को परलोक में जाना है। इस सत्य को अगर तुम प्रत्येक समय सामने रख सको और सामने रखकर ही अपने कर्त्तव्य का निर्धारण करो तो तुम्हे दूसरा उपदेश सुनने की आवश्यकता ही न रहे। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हे प्रकाश देने लगेगी।

मगर तुम तो यही समझ बैठे हो कि जो कुछ है, यहीं पर है। आगे कुछ है ही नहीं। अपनी इस भ्रमपूर्ण विचारधारा के

कारण कपट के फल को जानते हुए भी कपट करते जा रहे हो। दुनियादारी के कामों मे तो कपट करते ही हो, हमारे यहां भी नहीं चूकते। धर्म के क्षेत्र मे भी तुम्हारा कपट-व्यवहार चलता रहता है। किसी को मुनिराज ने किसी वस्तु का प्रत्याख्यान कराया। प्रत्याख्यान करके भी वह उसी वस्तु का इस्तेमाल करने लगा। किसी ने उसे ऐसा करते देख लिया और कहा—तुमने तो इस वस्तु का त्याग किया था न? अब कैसे इस्तेमाल मे ला रहे हो? तब धृष्टतापूर्वक वह उत्तर देता है—मैंने तो उंगली पर उंगली चढ़ा ली थी।

मगर यह गुरु को धोखा देना है। याद रखना, दाई से पेट छिपा नही रहता। मनुष्य मनुष्य को धोखा दे सकता है, किन्तु भगवान् को धोखा देना असंभव है। अतएव माया को पापो की जननी जानकर त्यागो, इसी मे कल्याण है।

असूनृतस्य जननी, परशुः शीलशाखिनः।
जन्मभूमिरविद्यानां, माया दुर्गतिकारणम् ॥

यह माया असत्य की जननी है, सदाचार रूपी वृक्ष को खंडित करने के लिए कुल्हाड़े के समान है, अविद्या की जन्मभूमि है और अधोगति का कारण है।

इस माया के चक्कर में पडने वाले मायान्ध कहलाते है। मायान्ध के बाद लोभान्ध की गिनती की गई है। लोभ भी आत्मा का प्रबल शत्रु है। लोभ के प्रभाव से मनुष्य की आत्मा अत्यन्त मलीन हो जाती है। कहावत है—

लोभमूलानि पापानि।

अर्थात् समस्त पापो की जड़ यह लोभ ही है। 'लोभ पाप का बाप बखाना।' संसार मे जितने भी पाप होते है, उनके कारणो का अन्वेषण किया जाय तो अधिकांश का कारण लोभ ही सिद्ध होगा।

लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम्।
तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति, परत्रेह च मानव॥

लोभ की खूबी यह है कि वह बुद्धि मे चंचलता उत्पन्न कर देता है। जब तक मनुष्य की बुद्धि स्थिर रहती है, तब तक वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को विवेक की दिव्य तराजू पर तोलता रहता है और अकर्त्तव्य से बचा रहता है। मगर जब बुद्धि ही चंचल हो जाती है, तब मनुष्य दिवालिया बन जाता है। उसके पास भलाई-बुराई को नापने का कोई गज ही नहीं रह जाता। मनुष्य निरंकुश हो जाता है, बिना लगाम के घोड़े के समान बन जाता है। जब विवेक ही न रहा तो मनुष्य की उच्छृंखल प्रवृत्ति पर नियंत्रण कौन कर सकता है?

लोभ की दूसरी विशेषता यह है कि वह सन्तोष का नाश करके तृष्णा की आग धधका देता है। सच्चा सुख सन्तोष मे है। सन्तोषशील निर्धन मनुष्य जितनी शान्ति का अनुभव कर सकता है, जितने सुख का आस्वादन कर पाता है, तृष्णातुर धन-कुबेर को भी उतनी शान्ति और उतना सुख नहीं मिल सकता। तृष्णा हृदय मे दहकती रहने वाली वह आग है जो मनुष्य को सदैव जलाती रहती है, व्याकुल बनाये रहती है और सहज प्राप्त उत्तम सुख के साधनो को बेकार कर देती है। लोभ-जनित तृष्णा से अधा बना मनुष्य प्राप्त सुखसामग्री को तो

देखता नही, अप्राप्त को प्राप्त करने के लिए पचता रहता है। उसके पास लाखो की सम्पत्ति है और वह शान्तिपूर्वक अपनी जीवनयात्रा पूरी कर सकता है, मगर नही, वह लाखो का उपभोग नही करता और दिन-रात करोड़ो को पाने के लिए धरती-आसमान एक करता है। मनुष्य का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है कि वह प्राप्त सामग्री से भी लाभ नहीं उठा सकता ! और फिर कठिनाई यह है कि कदाचित् पुण्ययोग से उसे नवीन नवीन लाभ भी होता जाय, तो भी उसकी सन्तुष्टि नहीं होती। 'जहा लाहोतहा लोहो' के अनुसार ज्यो-ज्यो लाभ होता जाता है, त्यो-त्यो लोभ बढ़ता ही चला जाता है।

तृष्णा के अधीन हुआ मनुष्य कितना दुःख पाता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उसका इहलोक और परलोक दोनो ही बिगड़ जाते है।

तात्पर्य यह है कि जब तक अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा में विद्यमान है तब तक आत्मा सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष की ओर एक भी कदम नही बढ़ सकता। अतएव जिन्हे मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा है, उन्हे सर्वप्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करना होगा और सम्यक्त्व को प्राप्त करने के लिए अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग करना होगा।

अनन्तानुबधी क्रोध पत्थर की लकीर के समान होता है, जो मिटना नहीं जानता। मान पत्थर के स्तंभ के सदृश है। जैसे पत्थर का स्तंभ टुकड़े-टुकड़े भले ही हो जाय, पर मुड़ नहीं सकता इसी प्रकार यह मान झुकना नहीं जानता। अनन्तानुबधीमानी को कितना ही समझाओ कि ऐसा करना जाति, समाज और धर्म

के लिए हानिकारक है, किन्तु मान-चन्द्रजी नमना जानते ही नहीं है। अनन्तानुबधी माया वांस की जड़ के सदृश होती है। इसमे गांठ मे गांठ होती है। कदाचित् वांस की गांठो का पता चल भी सकता है, मगर कपटी के कपट का पता नहीं चलता। आपने नाई की पेटी देखी होगी। उसमे कई खाने होते है। किसी में उस्तरा, किसी मे कैंची और किसी मे और कुछ रहता है। उसके परतो का हरेक को पता नही रहता। मगर उस पेटी के खानों का तो पता लग सकता है, किन्तु कपटी के हृदय का पता नहीं लग सकता है। इस प्रकार नम्बर एक की (अनन्तानुबंधी) जो माया है, वह वांस की जड़ के समान होती है।

अनन्तानुवंधी लोभ किरमिची रंग की तरह होता है। कपड़ा फट जाय पर किरमिची रंग नहीं छूटता, इसी प्रकार यह लोभ नही छूटता। इन नम्वर एक के क्रोध, मान, माया, और लोभ की स्थिति यावज्जीवन की है। जीवन के अंतिम श्वास तक भी यह जीव का पिण्ड नही छोड़ते। अनन्तानुबंधी कषाय जीव को नरक का अतिथि वनाती है।

रावलपिंडी (पंजाब) की वात है। संवत्सरी का दिन था। सन्ध्या के समय प्रतिक्रमण हुआ। अन्त में चौरासी लाख जीव-योनियो के जीवो से क्षमा याचना होनी थी। एक श्रावक ने खमाया—'एक को छोड़ कर सब को खमाता हूँ।' जिसके साथ उसका वैर था, उसका नाम उसने नहीं लिया। ऐसा करने में शायद उसे सकोच हुआ। कोई २ नाम ऐसा होता है जिसका उच्चारण करने में सकोच होता है।

एक पण्डितजी अपनी पत्नी को साथ लेकर गंगा स्नान करने गये। उनकी स्त्री का नाम भी गगा था। गंगा के किनारे

पहुंचे । वहाँ कोई-कोई 'या गंगा मैया' कह कर और कोई 'तरण-तारणी गंगा मैया' आदि कह कर डुबकी लगा रहे थे। पण्डितजी स्नान करने को तैयार हुए, मगर सोचने लगे कि मैं क्या कहकर डुबकी लगाऊं ? मैं इन लोगो की तरह कहूँ सो ठीक नहीं । गंगा मेरी पत्नी का नाम है । उसे मैया कैसे कहूँ ? आया हूँ तो स्नान अवश्य करना होगा । स्नान किये बिना फल की प्राप्ति नही होती मगर घर वाली को मैया कैसे कहूं ? फिर सोचा–'या गंगा' इतना ही कहूं । मगर गंगा कहने से भी वह मैया हो जाएगी ! तो यह सब कहने सुनने की बात नहीं है । आखिर पण्डितजी ने 'जो है, सो तू है' कहकर डुबकी लगा ली ।

सोचना चाहिए कि यह सब क्या है ? नाम क्या कोई एटम-बम है, जिससे डरने की आवश्यकता है ? पत्नी अपने पति का नाम तो नहीं लेगी मगर घर आने पर उसे खरी-खोटी अवश्य सुना देगी । सेवा पूरी-पूरी कर देगी । यह पतिव्रतापन क्या कम सराहनीय है कि नाम नही लेती पर काम पूरा बजा देती है ।

हाँ, तो संवत्सरी का प्रतिक्रमण करके समस्त जीवो को खमाते समय वह श्रावक बोला—एक को छोड़ कर सब को खमाऊं । उसने भी अपने वैरी का नाम नहीं लिया । मगर सब को खमाने की तो वैसी आवश्यकता नहीं थी । उसे तो उसी को विशेष रूप से खमाना चाहिए, जिसके साथ उसकी दुश्मनी थी ।

कहने का आशय यह है कि इस प्रकार की क्षमायाचना करना आत्मा को धोखा देना है । अन्त:करण मे जब तक इस प्रकार का शल्य घुसा हुआ है, तब तक आत्म कल्याण नही हो सकता, शान्ति प्राप्त नही हो सकती और आत्मा में निर्मलता नही आ सकती । इस प्रकार के कषाय-रूप शल्य से युक्त मनुष्य

की मृत्यु हो जाय तो उसके लिए नरक के सिवाय और कोई गति नहीं है। उसे सीधा नरक का टिकिट मिलता है। यह चौकडी सम्यक्त्व को उत्पन्न नही होने देती। कदाचित् सम्यक्त्व पहले प्राप्त हो गया हो और बाद में इस कषाय का उदय आ जाय तो सम्यक्त्व का घात हो जाता है।

सारांश यह है कि समकित की प्राप्ति के लिए अनन्तानुबंधी कषाय का क्षय या उपक्षय होना आवश्यक है। इस कषाय से संतप्त आत्मा मे समकित का प्रादुर्भाव असभव है। भद्र पुरुषो! समय जा रहा है। यह सुनहरी जीवन बार-बार मिलने वाला नही। दिल को खोलकर चलो, कषायो को मिटाते चलो और समकित को पनपाते चलो। कषाय को घटाना संसार को घटाना है और कषाय का विनाश करना भवभ्रमण का विनाश करना है। राग-द्वेष को घटाने वाले ही संसार-सागर से तिरेंगे।

ब्यावर
२६-७-५६

———



विकास योजना

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः।
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः
वीरात्तीर्थमिद प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,—
वीरे श्रीधृतिकीर्ति कान्तिनिचयः,हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्री सिद्धान्तसुपाठकामुनिवरा रत्न त्रयाराधका.
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

भद्र पुरुषो तथा देवियो !

यदि आप जरा बारीक नज़र से देखेंगे तो पता चलेगा कि संसार के सभी प्राणी अपने आपको सबसे आगे और सबसे ऊपर देखना चाहते है। कोई किसी से पीछे नहीं रहना चाहता। प्रत्येक व्यक्ति निरन्तर इसी चेष्टा मे संलग्न दिखलाई देता है।

व्यापारी हो या वकील हो, शिक्षक हो या साहित्यकार हो, किसान हो या श्रमिक हो। सभी मे अग्रगण्य बनने की सहज अभिलाषा विद्यमान है और वही मनुष्य को विविध प्रकार की प्रवृत्तियो में संलग्न बनाये रखती है।

यहाँ उपस्थित श्रोताओ में अधिक भाग व्यापारियों का है। व्यापारी की मनोभावना आपसे छिपी नही। प्रत्येक व्यापारी व्यापारिक क्षेत्र मे अपने आपको सबसे अगुवा देखना चाहता है। वह व्यापार का अधिक से अधिक विकास करना चाहता है। इसके लिए वह सात समुद्र पार विदेशो से सम्बन्ध स्थापित करता है। अपने स्थान पर बैठ कर तारो और टेलीफोनो द्वारा व्यापार का सचालन करता है। सुना है, कोई-कोई व्यापारी तो अपने पाखाने मे भी टेलीफोन रखते है, ताकि लाभ का अवसर हाथ से न निकल जाय। कोई-कोई व्यापारी अपने प्रिय परिवार का परित्याग कर परदेश चला जाता है। कभी जलमार्ग से जलयान द्वारा जाता है और कभी आकाशमार्ग से वायुयान द्वारा यात्रा करता है। वह व्यापारी भलीभाति जानता है कि मेरा सफर खतरे से खाली नही है। आये दिन समाचारपत्रो में दुर्घटनाओं के समाचार प्रकाशित होते रहते हैं। अमुक जगह जलयान समुद्र के अतल तल में समा गया तो अमुक जगह वायुयान जमीन पर आ गिरा। यह सब समाचार व्यापारी भी सुनते-पढ़ते हैं, फिर भी अग्रगण्य बनने की अदम्य अभिलाषा उन्हें यह सब खतरे उठाने को बाध्य करती है। सबसे आगे बढ़ने की वह अन्तःप्रेरणा प्राणो की ओर से भी लापरवाह बना देती है। किसी कवि ने ठीक ही चित्र खींचा है—

यद् दुर्गामटवीमटन्ति विकटं, क्रामन्ति देशान्तरं,
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशा कृषिं कुर्वते।

सेवन्ते कृपणं पतिं गजघटासंघट्टदुस्सं चरं,
सर्पन्ति प्रधनं धनान्धितधियस्तल्लोभविस्फूर्जितम् ॥

लालसा से प्रेरित होकर लोग क्या-क्या नहीं करते? कोई दुर्गम पहाड़ो मे भटकते फिरते है, देश-विदेश मे मारे-मारे फिरते है, गहरे सागर मे अवगाहन करते है, अत्यन्त कष्टकारी कृषिकर्म करते है, कंजूस स्वामी की भी सेवा करते है और भयानक से भयानक युद्ध मे भाग लेते है। जो धनान्ध है–धनी बनना चाहते है, वे बड़े से बड़े संकट की भी परवाह नहीं करते और जान हथेली पर धर कर प्रवृत्ति करते है।

तो, जिस प्रकार व्यापारी निरन्तर विकास करने के लिए उद्यत और लालायित रहते है, उसी प्रकार कृषक वर्ग भी दिन रात पचते रहते हैं। वे जमीदार के पेशे मे—कृषि कर्म मे, अन्न उपजाने के कार्य मे आगे बढ़ने की भावना रखते है। किसान कृषिकार्य को बढ़ाने के लिए, विकसित करने के लिए, नाना प्रकार की योजनाएँ घड़ता रहता है।

आज सरकार का कृषिविभाग खेती करने के नये-नये साधन उत्पन्न और उपलब्ध कर रहा है। पहले किसान बैलो से काम लेता था, जिससे थोड़ी-सी जमीन जोती जाती थी। आज बैलो का स्थान ट्रेक्टरो ने ग्रहण कर लिया है। ट्रेक्टर थोड़ी ही देर मे बहुत-सी ऊबड़-खाबड़ पड़ती जमीन को भी जोत कर, उपजाऊ बना कर तैयार कर देता है। पहले मनुष्य हाथो से, दांतलो के द्वारा फसल काटते थे और ऐसा करने मे काफी समय लग जाता था, किन्तु आज वही फसल यंत्रों के जरिए थोड़े से समय मे काट दी जाती है और साफ कर दी जाती है। पहले

किसानो के यहां जो गोवर या कूड़ा-कचरा होता था, उसी का खाद बनता था। उसी को वे अपने खेतो मे डालते थे। किन्तु आज के कृषिविभाग ने, विकासयोजनाओ के अन्तर्गत कृषि का विकास करने के लिए अत्यधिक प्रगति की है। आज नवीन प्रकार का खाद विज्ञान की सहायता से बनाया जा रहा है। इसके लिए बड़े-बड़े कारखाने खुल गये है। कहते हैं, इस खाद की बदौलत धरती की उत्पादनशक्ति मे पर्याप्त वृद्धि हो जायगी।

सरकार के प्रयास यहीं तक सीमित नही हैं। उसने अधिक अन्न उपजाने वाले किसानो को पुरस्कार प्रदान करने की भी घोषणा कर रक्खी है और तदनुसार पुरस्कार मे अच्छी धनराशि बांटी जा रही है। एक-एक किसान को दस-दस हजार तक का पुरस्कार दिया गया है।

इस प्रकार जब घर मे पैदावार ज्यादा हो और ऊपर से मिलता हो, तो कौन किसान पीछे रहना चाहेगा ? स्वाभाविक है कि प्रत्येक किसान विकास के लिए प्रयास करेगा।

सरकार के इन प्रयासो के पीछे हेतु यह है कि आज देश मे जो भूखे हैं, जिन्हे अन्न उपलब्ध नहीं होता, उन्हे भी भरपेट अन्न मिल सके। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि आज करोड़ों-अरबों रुपया अन्न खरीदने के लिए विदेशो को देना पड़ता है। यदि भारतवर्ष मे ही पर्याप्त मात्रा मे अन्न का उत्पादन होने लगे तो वह विपुल धनराशि बचाई जा सकती है और उससे देश की समृद्धि की वृद्धि हो सकती है। तथ्य यह है कि जिस देश में अन्न अधिक उत्पन्न होता है, वहां सभी चीजों की इफरात होती है। वह देश सोना, हीरे, पन्ने, माणक और मोती भी खरीद

सकता है। वह भोगोपभोग के सभी पदार्थों को मुहय्या कर सकता है। जब किसान अधिक अन्न उत्पन्न करते है, तो हर प्रकार का व्यापार चमकने लगता है। किसान नगरो मे आकर तरह-तरह की वस्तुएँ खरीदते है और सभी वर्गों के व्यापारियो को लाभ होता है। जहां अन्न ही उत्पन्न न होगा, वहां सोना-चादी आदि खरीदने की कल्पना किसके मन में उत्पन्न होगी ?

उत्तराध्ययनसूत्र के तीसरे अध्ययन मे समस्त पौद्गलिक सुखो का आधार कृषि ही बतलाया गया है। कहा है—

खित्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दासपोरसं।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥

तात्पर्य यह है कि जिसके पास बहुत-से खेत हैं और जो बहुत अन्न उत्पन्न करता है, उसे किसी वस्तु की कमी नहीं रहती। अन्न होता है तो दूध भी होता है घी भी होता है, और सभी चीजे हो जाती हैं। जिसके पास खेत है और जो अन्न उपजाता है, उसके पास पशु भी विशेष होते है। नगर के लोग तो एक भी पशु रखने मे कठिनाई अनुभव करते है, किन्तु ग्रामीण जन साधारण स्थिति के होते हुए भी दस-बीस पशु रख लेते है।

संस्कृत मे पुरानी उक्ति है—'अन्नं वै प्राणा' अर्थात् अन्न प्राण है। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणधारण करने के लिए अन्न की अनिवार्य आवश्यकता है। वस्त्रो के विना जीवन निभ सकता है, सोने-चादी के अभाव मे जीवन का कुछ भी नही बिगड़ता, भोग-विलास की अन्य सामग्री भी जिदगी की कोई खास आवश्यकता नहीं है, परन्तु अन्न के बिना जीवन नही टिक सकता।

अगर अन्न की कमी होती है तो मांस जैसी अस्वाभाविक एवं घोर पापमय वस्तुओ का उपयोग बढ़ जाता है।

आज जिस तेजी से मनुष्यो की संख्या बढ़ रही है, उसे देखते हुए भविष्य मे अन्न की भारी कमी होगी, ऐसा वैज्ञानिकों का कथन है। इस भावी सकट का सामना करने के लिए वैज्ञानिक लोग अन्न के बदले दूसरा खाद्य तलाश करने में लग गये है। उनका कहना है कि उस हालत मे कोई (लीलन-फूलन) अन्न के स्थान पर खाद्य के रूप में काम मे आएगी।

अन्न की कमी के कारण आज सरकार मांस-मछली-उद्योग को बढ़ाने के लिए करोडों रुपये खर्च कर रही है और लीलन-फूलन को खाद्य के लिए उपयोगी बनाने की तैयारी कर रही है। यह सब कितना पापमय व्यापार है। इस पैशाचिक प्रवृत्ति की वृद्धि को रोकने का एक मात्र साधन कृषि द्वारा अधिक अन्न उपजाना ही हो सकता है।

कृषि के संबध मे कई प्रकार की चर्चाएँ चलती हैं। कोई कृषि कर्म को महारभ कहते है, तो कोई अल्पारम्भ कहते हैं। किन्तु मैं इस पंचायत में नहीं पड़ना चाहता। मैं तो यही कहना चाहता हूँ कि ज्ञानी पुरुष वही है जो कभी दुराग्रह के वशीभूत नहीं होता और सदैव सत्य के सन्मुख नतमस्तक रहता है। विशिष्ट ज्ञानियो ने अपने ज्ञान में देश और काल की जैसी परिस्थिति देखी, तदनुसार प्रतिपादन किया है, परन्तु ऐसा करते हुए उन्होंने मूलभूत सत्य तत्त्व का परित्याग नहीं किया। वस्तु स्थिति उन्होंने स्पष्ट कर दी है।

चोर ने चोरी की तो उसे उसका क्या फल मिला, यह भी ज्ञानियो ने बतलाया है। एक आत्मसाधक ने साधना करके क्या फल पाया, यह भी बता दिया है। संसार मे क्या-क्या घटनाएँ घटीं और उनका क्या नतीजा निकला, यह भी बतला दिया है। यह सब वर्णन निरुद्देश्य नही है। इतिहास की दृष्टि से वह वृत्तान्त नहीं लिखे गये है, वरन् कर्म-फल बतलाने के लिए शास्त्रों मे उन घटनाओ का दिग्दर्शन कराया गया है। यह सत्य है कि उन घटनाओ से इतिहास भी फलित हो जाता है, मगर शास्त्रकारों ने तो उन्हे धर्मशास्त्र की दृष्टि से ही उल्लिखित किया है।

महारंभ क्या है, त्यागने योग्य क्या है, ग्रहण करने योग्य क्या है और जानने योग्य क्या है? यह सब मनुष्य को स्वयं अपने विवेक से, शास्त्रीय उल्लेखो की रोशनी मे, विचारना चाहिए। जिसका अन्तःकरण समभाव से परिपूर्ण है, जिसमे किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है, दृष्टिराग नहीं है, जो जिनेन्द्र कथित तत्त्व को शुद्ध बुद्धि से ग्रहण करना चाहता है, वह अपने विचारो से प्रत्येक प्रश्न को सुलझा सकता है। सब बातें शास्त्र में विस्तार से नहीं लिखी जा सकती। मनुष्यो के मस्तिष्क मे असंख्य प्रश्न उत्पन्न होते है और होते ही रहते है। उन सब का सीधा समाधान शास्त्र मे नही मिल सकता। शास्त्र मूलभूत वस्तु तत्त्व का निर्देश करता है, हमारे समक्ष दिशा उपस्थित कर देता है। उसकी सहायता से निर्णय करना हमारा काम है। इसी कारण शास्त्र को 'सूत्र' कहते है। 'सूचनात् सूत्रम्' अर्थात् जो अर्थ की सूचना मात्र कर देता है, वह सूत्र कहलाता है। शास्त्र में, संक्षेप मे, सभी विषयो पर प्रकाश डाला गया है।

हाँ, आरम्भ तो आरम्भ ही है। जो जितने अंश में आरंभ करेगा, उसे उतने अंश मे आरभजनित पाप का भागी

होना पड़ेगा। इस सिद्धान्त को सामने रखकर आपको अपनी कार्यदिशा निश्चित करनी चाहिए। मगर ऐसा करते समय यह नही भूल जाना चाहिए कि कही आप अल्पारम्भ के बदले महारम्भ के चक्कर में न पड़ जाएँ।

सज्जनो! मै कह रहा था कि जहां अन्न अधिक उत्पन्न होता है, वही देश सम्पन्न है, मालामाल है और वह पराधीन रहने वाला नहीं है। यही सच्ची स्वाधीनता है। वह स्वराज्य किस काम का, जिसके होते हुए देशवासियो को खाने को अन्न न मिले, पहनने को वस्त्र न मिले और रहने को झोपड़ी भी मयस्सर न हो। ऐसे देश के लोग किस प्रकार यह अभिमान कर सकते है कि हमें स्वराज्य मिल गया है। जिस देश के निवासियो का जीवन परदेश की मुट्ठी मे हो, जहां विदेशो से अन्न आता हो, विदेशी दया करके अन्न भेज दे तो खा ले, न भेजे तो भूख से तड़प-तडप कर मर जाएँ, क्या वह देश स्वतंत्र कहलाने योग्य है? क्या यही स्वतंत्रता की सच्ची परिभाषा है?

जो देश अपनी पेट भरने की समस्या हल नहीं कर सकता वह सच्चे अर्थ मे स्वतन्त्र होने का दावा नहीं कर सकता। अगर वह दावा करता है, तो उसका दावा झूठा है। यह बुरी बात है।

हाँ, तो आज किसान और सरकार-दोनो ही खेती को बढ़ावा दे रहे हैं। स्थान-स्थान पर कृषि-कॉलेज स्थापित किये जा रहे हैं। उर्दू मे उन्हे जरायत-कॉलेज कहते हैं। उनमें बाकायदा कृषि संबंधी शिक्षण दिया जाता है। शास्त्रों में ७२ कलाओं का उल्लेख है, जिनमे एक 'अन्नविहि' अर्थात् अन्न उपजाने की कला भी है। किस प्रकार अधिक से अधिक अन्न की पैदावार हो, यह

अन्नविधि भी कला है। आजकल यह कला नूतन स्वरूप ग्रहण कर रही है। इस प्रकार किसान भी खेतीवाड़ी के काम मे अपने आपको सब से ऊंचा देखना चाहते है।

धनवानो मे भी होड़ लग रही है। वे भी अपने आपको दूसरो से अधिक धनाढ्य देखना चाहते है। धनाढ्यता की होड रूपी घुडदौड़ मे वे धर्म-कर्म को भी विसर जाते है। कई लोग तो यहाँ तक गिर जाते है कि चाहे मांस-सप्लाई का ठेका हो या हिंसा कर्म का, उसे भी लेने मे संकोच नही करते। कही वे धनाढ्यता की घुड़दौड मे किसी से पीछे न रह जाएँ।

इस प्रकार धनी धन के क्षेत्र मे आगे बढ़ना चाहता है, किन्तु वह उचित और अनुचित का खयाल नहीं करता। 'अर्थी दोषं न पश्यति' अर्थात् जो धन का लोलुप होता है, धन का ही पुजारी बन जाता है, वह पाप–दोष का विचार नहीं करता, नीति-अनीति को भुला देता है। उसकी आंखो पर पट्टी बंध जाती है। उनका सिद्धान्त, उनका ध्येय और उनका उपास्य एक मात्र धन ही होता है। धनान्ध मनुष्य नाना प्रकार के पापो का आचरण करता है और अपने आपको अधिक से अधिक धनी बना देखना चाहता है। वह किसी से पीछे नहीं रहना चाहता। इस भावना से प्रेरित होकर वह पाप–पुण्य का विचार छोड़ देता है। ऐसे धनवानो के धन के विषय मे ही यह कहा गया है:—

द्रव्येण जायते कामः, क्रोधो द्रव्येण जायते।
द्रव्येण जायते लोभो, मोहो द्रव्येण जायते॥

अर्थ—मनुष्य धन को ही सभी कुछ समझ कर जब धर्म-कर्म आदि को भूल जाता है तो उस धन से काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि दुर्गुणो की उत्पत्ति होती है।

मै यह नही कहता कि गृहस्थ धन का सर्वथा परित्याग कर ही दें, परन्तु धर्म का परित्याग करके धन को ही उपादेय समझने की वृत्ति का उन्हे अवश्य त्याग करना चाहिए।

जो विद्यार्थी है और शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, उनकी भी यही भावना रहती है कि हम दूसरे सब विद्यार्थियो मे अग्रसर हों! विश्वविद्यालय की परीक्षा मे मेरा नबर सब मे पहले रहे। वह भी अपने आपको किसी से पीछे देखना नही चाहता। वह आधी-आधी रात तक लैम्प जला कर पाठ घोटता है। कई एक विद्यार्थी तो ऐसा करके नेत्रो की ज्योति से भी हाथ धो बैठते हैं। कई दिमाग पर अत्यधिक प्रभाव पडने के कारण पागल हो जाते है। जो पागल नही होते, वे भी स्वास्थ्य को तो गँवा ही देते है। शक्ति से अधिक बोझ आ जाने से हानि होना स्वाभाविक है। मस्तिष्क, शरीर में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है और सब से अधिक भार पड़ने से वह खतरे में पड जाता है। उसमें विकृति आजाती है और समग्र जीवन वृथा हो जाता है। इतनी बड़ी जोखिम उठाकर भी विद्यार्थी अपने आपको अग्रगण्य बनाने का प्रयास करते है। वे दिन को दिन और रात को रात नहीं गिनते। खास तौर से जब परीक्षा के दिन सन्निकट आते है, तब तो उन्हे खाने-पीने की भी सुधि नहीं रहती। एक ही चीज उनके चित्त में रमी रहती है कि शिक्षा की घुड़दौड मे कहीं मै पिछड़ न जाऊं! जब वह सफलता के साथ परीक्षा मे उत्तीर्ण हो जाता है तो उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता। मित्रों को मिठाइया खिलाता है

और सिनेमा दिखाने ले जाता है। मित्रो से उसे बधाइयो के संदेश मिलते है। वह अखबार मे अपना नाम छपा देख कर फूला नही समाता !

इसके विपरीत, कदाचित् वह अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो उसको नानी मर जाती है। वह अपने आपको अपने परिचितो के सामने मुख दिखलाने योग्य भी नहीं समझता। लज्जा और संकोच से वह जमीन मे गड़ जाना चाहता है। कोई कायर और दुर्बल हृदय लड़के तो रेलगाड़ी के आगे लेटकर अपने प्राणो को होम चुके है। कई कुए मे डूब कर मर गये और कई जहर खाकर। वह सोचता है कि मेरी साल भर की मिहनत मिट्टी मे मिल गई और मेरा रिकार्ड खराब हो गया।

भद्र पुरुषो ! आप दुकान पर बैठते है। कमाई करने मे कोई कसर नही रखते। किन्तु यदि साल भर मे एक भी पैसे की कमाई न हो तो आपके मन मे कितनी पीड़ा होगी ? इसी प्रकार अनुत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थी को भी पीड़ा होती है। किन्तु जैसे लौकिक विद्या मे उत्तीर्ण होने पर खुशी का पार नहीं रहता, वैसे ही जो आध्यात्मिक क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर लेता है, उसके आनन्द की सीमा नही रहती। उसकी सफलता चरम सफलता है, ऐसी सफलता कि उसके बाद फिर कोई सफलता प्राप्त करने की आवश्यकता ही नही रहती। उस अपूर्व सफलता को प्राप्त करने वाला कृतकृत्य हो जाता है। उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। और जो विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाता है, उसे जैसे महान् दुःख होता है, इसी प्रकार धार्मिक साधना के क्षेत्र मे जो अनुत्तीर्ण होता है, जीवन की इस असली और महत्त्वपूर्ण परीक्षा में असफल होता है, उसे कितना पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए।

मगर आज के मनुष्यों की दृष्टि इतनी क्षुद्र और संकीर्ण हो गई है कि वे लौकिक सफलता को ही सब कुछ समझते है और उसे प्राप्त करके ही मानो कृतकृत्यता का अनुभव करते है। उन्हे नहीं मालूम कि इस सफलता मे घोर असफलता छिपी हुई है। यह लौकिक बालू पर खड़ी हुई दीवार है जो किसी भी क्षण धूल मे मिल सकती है।

अरे मनुष्य ! तू यह बात क्यो नही समझ लेता कि तेरा यह वर्त्तमान जीवन ही सब कुछ नहीं है। यह जीवन तो अल्प-काल तक ही रहने वाला है। इस जीवन के पश्चात् भी तेरा अस्तित्व रहेगा और वह समय इतना बड़ा है कि उसकी तुलना मे वर्त्तमान जीवन का समय नगण्य है, किसी गणना मे ही नही है। भला विचार करके देख तो सही कि अनन्त भविष्य की तुलना मे वर्त्तमान कितना क्षुद्र है! और यह क्षुद्र काल भी निश्चित नहीं है। तू भविष्य के एक मिनिट तक भी जीवित रहने का भरोसा नही कर सकता। किसी भी क्षण सांस बन्द हो सकता है। हृदय की हल्की-सी धड़कन के सहारे तेरा यह खेल चल रहा है। वह धड़कन किसी भी पल बंद हो सकती है और तेरा खेल खत्म हो सकता है। यह सचाई इतनी असंदिग्ध है कि इसमें शंका को लेश मात्र भी अवकाश नही है। लोग चलते-फिरते लुढ़क जाते है। बाते करते-करते परलोक का रास्ता पकड लेते है। ऐसे चचल, अनिश्चल और क्षणविनश्वर जीवन की सफलता और असफलता को तूने महत्त्वपूर्ण समझ लिया है और अनन्त भविष्य की सफलता और असफलता को कुछ महत्त्व ही नहीं देता। उसकी तरफ से नेत्र बन्द किये बैठा है।

कितना विस्मय! कितना आश्चर्य। लौकिक क्षेत्र में अपनी बुद्धिमत्ता की धाक जमाने वाला मनुष्य आध्यात्मिक क्षेत्र

मे इतना बुद्धिहीन बन रहा है ! जो महान् है, उसे तुच्छ मानता है और जो तुच्छतर है, उसे महान् समझता है। जिसको जीवन का सर्वोत्तम साध्य समझना चाहिए, उसे कुछ समझता ही नहीं।

जो विद्यार्थी खेल-कूद मे अपना समय नष्ट कर देता है और अध्ययन में शिथिलता करता है, वह परीक्षा के समय पछताता है और उसे अन्त में असफलता का मुंह देखना पड़ता है। इसी प्रकार जो मनुष्य आध्यात्मिक साधना के प्रति उदासीन रहता है और इन्द्रियो के भोगोपभोगो मे लीन रहता है, जो सुखशील है, पुद्गलानन्दी है, उसे भी अन्त मे पश्चात्ताप की भट्ठी मे जलना पड़ता है, घोर दु.खो का सामना करना पड़ता है और दारुण व्यथाओ का पात्र बनना पड़ता है। असफल विद्यार्थी का तो एक वर्ष ही व्यर्थ जाता है, परन्तु जो धर्म-साधना नही करता या उसमे असफल होता है, उसकी सम्पूर्ण जिंदगी व्यर्थ चली जाती है। इतना ही नही, वह अपने भविष्य को भी दुर्भाग्यपूर्ण बना लेता है।

जो विद्यार्थी अनुत्तीर्ण होने पर अपघात कर लेता है, उसकी मूर्खता की कोई सीमा नही। अनुत्तीर्ण होने पर उसका एक वर्ष बिगड़ता है, मगर अपघात करने पर तो सारी जिदगी ही नष्ट हो जाती है और साथ ही आगे का जन्म भी बिगड़ जाता है। आत्मघात करना महापाप है। ठाणांगसूत्र मे दस प्रकार के महापापी कहे गये है। उनमे झूठी साक्षी देना भी सम्मिलित है। 'कूडसक्खं महापावं' अर्थात् कूडी साक्षी देना घोर पाप है। इसी प्रकार कृतघ्न को, जो किये हुए उपकारी के उपकार को भूल जाता है, उसे भी महापापी कहा है। मनुष्य को उचित तो यह है कि वह दूसरे के द्वारा अपने प्रति किये हुए उपकार

को याद रक्खे, उसका बदला देने की भावना रक्खे और समय आने पर प्रत्युपकार करे, किन्तु आप-दूसरो का जो उपकार करे उसे भूल जाय। कहावत है—'नेकी कर और कुए मे डाल।' अर्थात् दूसरो की भलाई करके भूल जा।

अगर तू इन्सान है, तेरे अन्दर मनुष्यता है, तो जिसने तेरा भला किया है, उपकार किया है, बिगड़ी को बनाने मे योग दिया है, गिरे हुए को उठाया है और तुझे गले लगाया है उस उपकारी के उपकार को मत भूलना! जिस जिसने तुझे ज्ञान देकर तेरे आन्तरिक नेत्र खोल दिये है, तुझे दिव्य चक्षु प्रदान किये है, जिसने सम्यक्त्व रूपी रत्न तेरे पल्ले मे बाँध दिया है और तुझे जीवन के ऊंचे स्तर पर पहुँचा दिया है, वह तेरे लिए महान् है। उसके प्रति कृतज्ञता का भाव धारण कर। उसे अपना परमोपकारी समझ। ऐसा न करके अगर तू किसी भी कारण से उसकी निन्दा करता है, उसकी अवज्ञा करता है, उसके प्रति अनादर का भाव रखता है और उसके किये उपकार का कुछ भी मूल्य नहीं समझता तो समझ ले कि तू मनुष्यता से पतित होता है और इंसानियत से गिरता है।

यही सब चीजे हैं जो मनुष्य को वास्तव में आगे बढ़ाती हैं। जिसके जीवन मे यह सब गुण होंगे, उनकी सन्तान मे भी यह गुण आएंगे। अपने जीवन-व्यवहार के द्वारा बालकों के समक्ष जो आदर्श उपस्थित किया जाता है, वह वैसे हो बन जाते हैं। मगर आज होना क्या है? सेठ और सेठानी अपने विनोद के लिए बच्चो की जिंदगी बिगाड़ देते हैं। इधर बैठे सेठजी और उधर बैठ गई सेठानीजी। बीच मे बच्चे को बैठा लिया। सेठजी ने कहा—दो आने दूंगा, बोल तू किसका बेटा है? बच्चा लोभ

में आकर कहा है—तुम्हारा हूॅ। तब सेठानी कहती है—अच्छा मै आठ आने दूंगी, बता किसका बेटा है? बच्चे का लोभ बढ़ता है और वह कहता है—इनका नहीं, तुम्हारा हूॅ। तब सेठानी अपने बेटे को सुशिक्षा देती हुई कहती है—अगर तू मेरा बेटा है तो अपने बापकी मूछें पकड़! बच्चा बापकी मूंछे खीचता है और बाप जैसे कृतकृत्य हो जाता है! फिर सेठजी की बारी आती है। वह फर्माते है–जा, अपनी मां की चोटी पकड़ कर खीच दे! वह मॉ की चोटी हिलाता है और मॉ खुश हो जाती है। मगर ऐसे माता-पिता को नहीं मालूम कि आज जो बालक अपने कोमल और नन्हे-नन्हे हाथो से मूछे और चोटी हिला रहा है, वही आगे चल कर अपने वज्र-करो से उन्हे जड़ से ही उखाड़ देने के लिए तैयार हो जायगा। इस प्रकार के मनोविनोद से बच्चे के जीवन मे ऐसे कुसंस्कार पैठ जाते है जो जीवन भर नहीं निकलते। बच्चा कोरे कागज के समान है। उस पर चाहो तो काली स्याही से लिखो, चाहो तो सुनहरी स्याही से लिखो! बुरे सस्कार भी डाल सकते हो और सुसस्कार भी डाल सकते हो। याद रक्खो कि जैसे कोरे कागज पर काली स्याही पोत देने पर दूसरी स्याही से लिखना कठिन है, इसी प्रकार बच्चे के जीवन मे डाले हुए कुसस्कारो को मिटा कर सुसंस्कार डालना कठिन होता है। अतएव पहले से सावधान रहो और बच्चे को संभाल कर रक्खो। ऐसा नहीं करोगे तो पछताओगे और कहोगे कि—'बच्चा मेरे कहने मे नहीं रहा। हे गुरुदेव! आप सुधारो।' हम सुधारने को तैयार है, मगर हमारे पास आवे तो सही! ग्राहक दुकान पर ही न फटके तो सौदा कैसे पटे! ब्यावर–निवासियो! तुम बूढों को उतना सुनाने की आवश्यकता नहीं, जितना बच्चों को सुनाने की आवश्यकता है। संघ और समाज का भविष्य

इन्हीं के हाथो मे है। यह भावी स्तंभ यदि सुदृढ होंगे तो संघ-समाज को कोई खतरा नहीं हो सकता। मेरे चतुर्मास-निवास की सार्थकता इसी मे है कि तुम्हारी संताने अधिक से अधिक लाभ उठावे। किन्तु आप यहाँ आते है और बालको को दुकान पर छोड़ आते है, क्योंकि आपसे कपड़ा नही फाड़ा जाता और हाथ कांपने के कारण अनाज नहीं तोला जाता। आपका कर्त्तव्य है कि आप अपनी सतान की ओर ध्यान दे, उन्हे सुसंस्कारी बनावें और सत्संगति का लाभ उठाने का अवसर दें।

जीवन मे कुसंस्कार जल्दी घुस जाते हैं, सुसंस्कार कठिनाई से आते है। बच्चो को सुसंस्कारी बनाने के लिए माता-पिता को खूब सतर्क और सावधान रहना चाहिए। वे अपने बच्चे को जैसा देखना चाहते हैं, वैसा ही उन्हे स्वयं बनना चाहिए। अगर आप अपनी सन्तान को सत्यव्रती हरिश्चन्द्र के समान देखना चाहते है तो आपको भी सत्यनिष्ठ बनना होगा। अगर आप अर्जुन और भीम जैसा बलवान् और साहसी बनाना चाहते है, तो आपको भी निर्भीक और साहसी बनना चाहिए।

बेटे की नाक पर मक्खी बैठ गई। वह कहता है—माँ नाक पर मक्खी बैठ गई। माँ कहती है—बेटा, उड़ा दे। तब वह कहता है--माँ, दूसरी और बैठ गई। इस प्रकार की कायर सन्तान भविष्य मे क्या करेगी? वह अपने निज के लिए भी बोझा बन कर रहेगी।

भद्र पुरुषो! जीवन में साहस होना चाहिए, शौर्य होना चाहिए। वह जीवन कैसा जिसमें उत्क्रान्ति नहीं? वह मनुष्य, मनुष्य नहीं जिसमें तेजस्विता न हो, जागरूकता न हो।

इसी प्रकार जो शासक वर्ग है, राजा-महाराजा, न्यायाधीश आदि है, वे भी अपने को सब से आगे देखना चाहते है। वे समझते है कि हमारा ही झंडा लहराए और दूसरे झंडे नष्ट हो जाएँ। जो दस-बीस गांव का शासक है,वह सौ गांवो का शासक बन जाना चाहता है। निरन्तर अपने पद की वृद्धि करने के लिए दूसरो की चापलूसी करता है, छल करता है, षड्यन्त्र रचता है। वह सब पर अपना सिक्का जमाना चाहता है। फूटी आखो भी दूसरो की उन्नति नहीं देखना चाहता उसके मस्तिष्क मे यही चक्कर चलता रहता है कि कौनसा दाव-पेच लड़ाऊं कि अधिक से अधिक सत्ता मेरे हाथ मे आ जाय। यही शतरंज का खेल सारे ससार मे खेला जा रहा है।

दुनिया मे सब से बड़ा राज-शासन चक्रवर्ती का होता है। संसार भर मे चक्रवर्ती से बढ़कर दूसरा कोई शासक नहीं हुआ और न हो सकता है। सम्पूर्ण भरतक्षेत्र मे समस्त दुनिया—इंगलेण्ड, जर्मनी, जापान, चीन, अफ्रीका, अमेरिका आदि का समावेश हो जाता है। भरतक्षेत्र ५२६ योजन और ६ कला लम्बा-चौड़ा है। आज के अन्वेषक जितनी दुनिया का पता लगा पाये है, उससे बहुत बड़ी है। कोलम्बस से पहले लोगो को पता नही था कि इस धरती पर और भी कोई द्वीप है। कोलम्बस को एक नया द्वीप मिल गया। लोग उसे नयी दुनिया कहने लगे और वह आज अमेरिका के नाम से प्रख्यात है। उसका अस्तित्व तो पहले भी था, पर हम लोगो को पता नहीं था। इसी प्रकार और भी कितने ही देश इस पृथ्वीतल पर हैं, जिन तक हमारी पहुंच नहीं है। उन सब पर, जो भरतक्षेत्र के अन्तर्गत है, चक्रवर्त्ती का शासन होता है। ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा और ३२ हजार सामानिक राजा होते है, किसकी हिम्मत

है कि चक्रवर्त्ती की आज्ञा का उल्लंघन कर सके ? वह नौ निधियों और चौदह रत्नों का स्वामी होता है। देवगण उसकी आज्ञा मानते हैं। एक-एक निधान की हजार-हजार देवता रक्षा करते हैं। जहां चक्रवर्ती का कटक ठहरता है, वही जमीन फाड़ कर वे निधान प्रकट हो जाते हैं। संक्षेप मे यही समझिए कि चक्रवर्ती का वैभव असाधारण होता है। लेकिन इतना वैभव होने पर भी चक्रवर्ती को सन्तोष नहीं। संभूम चक्रवर्ती का उदाहरण हमारे सामने है।

एक दिन सभूम चक्रवर्ती को बैठे-बैठे एक विचार आया वह मन ही मन सोचने लगा—अरे संभूम ! तू शान्त होकर कैसे बैठा है ? किस गफलत मे पड़ा है ? दुनिया मे आकर तूने कोई नया काम नही किया। जो पहले वाले चक्रवर्तियो ने किया, वही तूने किया, वही तूने किया। इसमे तेरी क्या विशेषता रही ? तू चक्रवर्ती हुआ तो अन्य चक्रवर्तियो से कुछ विशेषता होनी चाहिए तुझ मे !

इतना विराट और विशाल साम्राज्य पाकर भी संभूम को सन्तोष नहीं हुआ। उसके मन में महत्त्वाकांक्षा रूपी राक्षसी ने प्रवेश किया। वह उसे समझाने लगी—उठ, दुनिया मे कुछ नया काम करके दिखला, जिससे ससार के लोग युग-युगान्तर तक तेरा नाम याद रक्खे !

संभूम ने खूब सोचा और कई योजनाएँ बनाई और बिगाड़ी। अन्त में वह एक निश्चय पर पहुंचा। सोचा—पहले के अनन्त चक्रवर्तियों ने छह-छह खंडों पर ही राज्य किया है। इससे आगे अपना राज्यविस्तार करने की हिम्मत किसी ने नहीं की। तू

भरतक्षेत्र से बाहर भी अपनी ध्वजा फहरा और एक नूतन रिकार्ड कायम कर। यही तेरी विशिष्टता होगी।

भद्र पुरुषो ! भरतक्षेत्र के बाहर पहुँचना हंसीखेल नही, क्योंकि उसके तीन तरफ दो-दो लाख योजन विस्तार वाला लवण-समुद्र है और एक तरफ हिमवान् पर्वत है, जिसे पार करना सभव नहीं।

परन्तु तृष्णा से अंधा बना हुआ मनुष्य वास्तविकता का विचार करने मे असमर्थ हो जाता है। संभूम ने विचार किया—उँह, दो लाख योजन का ही समुद्र तो है ! पार कर ही लेगे। बड़ा खतरा उठाये बिना बड़ा काम कैसे हो सकता है ?

संभूम ने अपने मंत्रियो को बुलाया। उनसे कहा-एक नया कार्य करना है। उसके संबंध मे परामर्श लेने के लिए तुम्हें बुलाया है।

मंत्री बोला—महाराज, आज्ञा कीजिए।

संभूम—योजना ऐसी है कि आज तक किसी के मस्तिष्क में नहीं आई। अचानक ही मुझे सूझ पड़ी है।

मत्री—फरमाइए, वह क्या है ?

संभूम—मंत्रियो ! मै सातवाँ खण्ड साधना चाहता हूँ। इसके लिए समुद्र पार करके धातकीखण्डद्वीप मे जाना पड़ेगा।

यह सुनकर मंत्रियों को बडी निराशा हुई। उन्होने सिर धुन लिया। वह सोचने लगे—हमने जाना कि हमारे स्वामी के दिमाग मे कोई शुभ विचार उत्पन्न हुआ होगा, कोई कल्याण-कारिणी योजना सूझी होगी। मगर यह तो सर्वसंहारिणी योजना है।

जब बुरे दिन आते है तो विचार भी उलटे हो जाते हैं—

सा सा सम्पद्यते बुद्धिः, साच मतिः सा भावना ।
सहायास्तादृशा सन्ति, यादृशी भवितव्यता ।।

अर्थात्—मनुष्य की भविष्य मे जैसी अच्छी या बुरी हालत होने वाली है, सुख-दुःख के जैसे दिन उसे देखने है, वैसी ही उसकी बुद्धि हो जाती है, वैसी ही मति हो जाती है, वैसी ही भावना बन जाती है और वैसे ही सहायक उसे मिल जाते है। तात्पर्य यह है कि भवितव्य–होनहार–के अनुरूप ही सारी परिस्थिति का निर्माण हो जाता है।

संसार में सच्चे परामर्शदाता विरले ही होते हैं। अधिकांश मित्र और सहायक स्वार्थ की भावना से परिपूर्ण होते है। सुख के समय गुलछर्रे उड़ाने वाले दोस्तो की कमी नहीं है, किन्तु संकट के समय साथ देने वाले निःस्वार्थ सहायक सौभाग्य से ही मिल सकते हैं। अधिकांश मित्र तो 'डुव्वाणं डुबोइयाणं' होते हैं, जो स्वयं डूबे होते है और दूसरों को भी डुबाते है। नीतिकारों ने सत्य ही कहा है—

पापान्निवारयति योजयते हिताय,
गुह्यं च गूहति गुणान् प्रकटीकरोति।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥

जो मनुष्य अपने मित्र को, जो आचार विचार व्यवहार और आहार से गिर रहा हो, मदिरापान करने लगा हो, अडा-मांस खाने लगा हो, किसी भी प्रकार के कुव्यसन में फँस गया

हो, सत्परामर्श देकर पाप से बचाता है और कहता है—कि यह तुम्हारे कुल की रीति नहीं है, यह संस्कृति नहीं है और यह तुम्हारा धर्म नही है, वही सच्चा मित्र है। ऐसा मित्र अपने मित्र को हित के मार्ग में लगाता है। उसके दोषो का ढिढोरा नहीं पीटता, वरन् सब के सामने उसके गुणो को प्रकट करता है। वह अपने मित्र को विपत्ति मे कभी अकेला नही छोड़ता।

जो अधःपतन की ओर ले जाता है, वह मित्र नही, शत्रु है। अत. आचार से भ्रष्ट बनाने वाले लोगो से सदैव बचना चाहिए। आचारभ्रष्ट की कैसी दुर्दशा होती है, यह उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन में बतलाया है:—

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सीलपडिणीए, मुहरि निक्कसिज्जइ॥

सड़े हुए कानो वाली कुतिया, जिसके कानो से रुधिर झर रहा है और कीड़े पड़ गये है, जहा कही भी जाती है, वही से डडे मार-मार कर भगा दी जाती है, उसे कोई भी अपने घर के आंगन मे बैठने या खड़ा होने नही देता। ज्यो ही वह किसी के घर मे घुसती है, घर वाला डडा लेकर दौड़ता है और बाहर खदेड़ देता है। इसी प्रकार जो पुरुष दुश्शील होता है, दुश्चरित्र होता है, चरित्रहीन या केरेक्टरलैस होता है, उसे सदाचारी सभ्य पुरुषो की सोसाइटी मे स्थान नही मिलता। उसे सुशील पुरुषो के समाज मे तिरस्कृत और अपमानित होना पड़ता है।

इस आर्यावर्त्त मे सदाचार को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। यहां मनुष्य की प्रतिष्ठा और महत्ता का माप सदाचार से

ही होता आया है। किन्तु आज यह माप बदल गया है। पश्चिमी प्रभाव से यहां के लोगो की धारणाएँ बदल गई हैं। आज मनुष्य का मूल्य सदाचार, सद्गुण अथवा न्यायशीलता से नहीं, धन से आंका जाता है। जो धनवान् है, उसे उच्चासन पर आसीन कर दिया जाता है, चाहे वह कितना ही दुराचारी और अज्ञानी क्यों न हो! समाज मे आज धन का ही बोलबाला है, धन की ही प्रतिष्ठा है। जो धनी है वही समाज का नेता है, विचारशील माना जाता है। अध्यक्ष का पद उसी के लिए सुरक्षित है। आज यही उक्ति सर्वत्र चरितार्थ होती है कि—

सर्वे गुणा कान्चनमाश्रयन्ति।

अर्थात्—सोने मे ही समस्त गुणो का वास है।

इस प्रकार धन ही महत्ता का प्रतीक रह गया है। एक धनवान् के सामने सच्चे देश सेवक की, जिसने देश और समाज की सेवा के लिए सर्वस्व त्याग दिया हो, डटकर बुराइयों का मुकाबिला किया हो, अपने स्वार्थ का बलिदान कर दिया हो, अथवा ज्ञानवान्, सेवाभावी और सद्गुणी व्यक्तियों को अपनाने वाले और सन्मान देने वाले विरले ही मिलते है। लोग धन को ही सब से बड़ी चीज समझने लगे है और गुणों को गौण मान बैठे हैं। यह एक प्रकार की नास्तिकता है, जिसका शीघ्र अन्त आ जाना चाहिए। मनुष्य को गुणों के गज से मनुष्यता का नाप करना चाहिए, क्योकि जीवन का वास्तविक विकास धन से नहीं, गुणो से, सदाचार से और ज्ञान से होता है।

जिस देश या समाज मे धन को सन्मान मिलेगा, धनी लोग ही जहाँ नगरपालिकाओं के या सभाओं-संस्थाओं के अध्यक्ष

बनाये जाएँगे, उस देश और समाज मे कभी शान्ति नही स्थापित हो सकेगी, क्योकि वहां लोग अधिक से अधिक धनी बनने की प्रतिस्पर्धा मे ही तल्लीन रहेगे और उसके लिए उचित-अनुचित सभी उपायो का अवलम्बन लेगे। उनके जीवन मे धर्मपक्ष या तो निर्बल हो जायगा या रहेगा ही नही।

तात्पर्य यह है कि समाज मे धन की प्रतिष्ठा होना, एक प्रकार से पाप की प्रतिष्ठा होना है। धनियो के आसपास खुशामदी लोगो की टोलियां इकट्ठी हो जाती है। उनके बल पर और पैसे के बल पर वे आज भले ही चुनाव मे विजयी हो जाएँ और खुशामदी लोग उन्हे ऊंचा कहे, परन्तु सचाई यह है कि उनके जीवन का पतन हो चुका है। रबर का गुब्बारा गैस से प्रेरित होकर सूं-सूं करता हुआ आकाश मे स्वतत्र विचरण करने के लिए उठ रहा है, मगर वह गिरने के लिए ऊपर उठ रहा है। उसका चढ़ाव स्थायी नहीं है। जिस दीपक का तेल समाप्त हो जाता है, वह बुझ जाता है, इसी प्रकार जिस मनुष्य के जीवन मे से सत्य निकल जाता है, उसका अधःपतन अवश्यभावी है।

चुनाव लड़ने वाला एक मनुष्य झूठ बोल कर, रिश्वत देकर और छल-कपट करके जीत जाता है और दूसरा सत्य और न्याय पर डटा रहकर हार जाता है। किन्तु सज्जनो! जब एक झूठी चालो से जीत गया और दूसरा सचाई से हार गया, तो वास्तव मे झूठ का आश्रय लेकर विजयी होने वाला हारा है, क्योकि वह मनुष्यता के दाव को हार गया है, और सचाई से हार जाने वाला जीता है, क्योकि वह अपने उच्च आदर्श पर विजय प्राप्त कर सका है। झूठ बोलकर जीतने वाले को अपनी जालसाजी का फल भोगना ही होगा।

सत्यनिष्ठ पुरुष वही है जो कसौटी के समय सत्य का परित्याग नहीं करता। वह जानता है कि अन्त में—

सत्यमेव जयते नानृतम्।

सत्य ही विजयी होता है, असत्य को पराजय का मुख देखना पड़ता है।

अभिप्राय यह है कि जो सत्यशील है, वह किसी भी प्रकार के प्रलोभन के वशीभूत होकर सत्य से च्युत नहीं होगा। वह अपने सदाचार की रक्षा करेगा। उसकी बात से अगर उसका मित्र या स्वामी अप्रसन्न होता है, तो भी वह मुंह देखी नहीं कहेगा-सच ही कहेगा। उसे सत्य और हितकारी सलाह ही देगा। ऐसा निस्वार्थ सेवक और ऐसा निस्वार्थ मित्र सौभाग्य से ही मिलता है।

संभूम चक्रवर्ती को भाग्य से ऐसे ही सेवक मंत्रियों के रूप में मिले थे। वे खुशामद के लिए हां में हां नहीं मिला सके। उन्होंने स्पष्ट कह दिया—नरनाथ! 'न भूतो न भविष्यति।' अर्थात् सातवां खंड न किसी ने जीता है, न कोई जीत सकता है। आप अयोग्य महत्त्वाकांक्षा के चक्कर में न पड़े। इतने में ही संतोष रक्खें।

भद्र पुरुषो! तीन बातों में सन्तोष धारण करना परम-आवश्यक है। नीतिज्ञ जन कहते हैं—

सन्तोषः त्रिषु कर्त्तव्यः, स्वदारे भोजने धने।

अर्थात्—सर्वप्रथम तो अपनी पत्नी में सन्तोष धारण करना चाहिए। पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों को माता और

बहिन के सदृश समझना चाहिए। इसी प्रकार अपने घर पर जो भोजन मिल गया हो, उसी पर सन्तोष धारण कर लेना चाहिए। दूसरो की बादाम की चक्कियां और हलुवा खाने की लोलुपता मत रक्खो। और स्वादिष्ठ भोजन मिलने पर भी मर्यादा से अधिक न खाओ, अन्यथा बीमारी के शिकार बन जाओगे। तीसरी वस्तु धन है, जिसके विषय मे सन्तोष न रहने से मनुष्य घोर दुःख पाता रहता है।

जो सन्तोप धारण करते है, वे फूलो की शय्या पर सोते हैं। जिन्हे संसार के पर्याप्त से अधिक पदार्थ मिल जाने पर भी सन्तोष नही होता, वे त्रिशूल पर सोते है।

संभूम चक्रवर्ती के चित्त मे सन्तोप को स्थान नहीं था। उसे मंत्रियो की बात नही जॅची। उसने कहा—तुम लोग मेरे अभ्युदय को नहीं देखना चाहते! सच ही कहा है—

मौत जब नजदीक आजाती किसी इसान की।
नष्ट हो जाती है शक्ति, आंख की और कान की॥

संभूम की यही अवस्था हुई। उसने अपने हितैषी मंत्रियों और मित्रो मे से किसी की नही सुनी। वह सातवां खंड साधने के लिए रवाना हुआ—

खंड सातवां साधन चला चक्री संभूमजी,
चककर बनूं चक्री नहीं चक्र कहलाएंगे।
माया के लोभी जीवड़े यो ही पछताएँगे,
खाया न खरचा हाथ से खाली ही जाएगे।
डूबा सागर के बीच मे नरक सातवे गया,
तैंती सागर की आयुष लौ दुख बहुत पाएंगे॥

सज्जनो ! साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा ने, हुकूमत के नशे ने संभूम को आगे बढ़ा दिया। वह जहाज पर सवार हो गया और चल दिया। वह कहता है—मंत्रियो ! देखना, मै अभी पहुँच जाता हूँ और सातवे खंड पर अपनी विजय-वैजयन्ती लहराता हूँ।

मंत्री व्यथित है, दुखी है कि स्वामी अपने को घोर विपत्ति मे डाल रहे हैं, मगर रोकने मे असमर्थ है। 'भावी बलवान् है' यह सोच कर चुप रह जाते हैं।

'भावि चेन्न तदन्यथा' अर्थात् यदि होनहार है तो वह टल नहीं सकती। आखिर संभूम की लोलुपता उसे सातवे नरक में ले गई। उसे चाहिए था सातवाँ खण्ड मगर मिल गया सातवाँ नरक ! शासनलोलुपता की अधिकता का यह दुष्परिणाम है।

तो जिस प्रकार शासक शासनक्षेत्र में अपने को सब से आगे देखना चाहता है, उसी प्रकार कामी जन काम की दुनिया मे अपने आपको सब से ऊँचा देखना चाहते हैं। वह सोचते हैं—मेरे कामभोग सबसे प्रधान और उत्तम हों। भोगी भोगों मे अपने को सर्वोपरि देखना चाहता है।

इस प्रकार व्यापार, कृषि, लौकिक अध्ययन, शासन, धन, और काम-भोग के क्षेत्र में विकास की जो योजनाएँ घडी जाती हैं, उनके पीछे क्या भावनाएं काम करती हैं ? धनैषणा-भोगैषणा, कामैषणा, यशोलिप्सा और कीर्त्तिकामना ही उनका आधार है।

सज्जनो ! थोडी देर के लिए अपने चित्त को स्वस्थ, शान्त और स्थिर करके विचार करो। क्या व्यापार और कृषि आदि का विस्तार करके कभी किसी ने तृप्ति अनुभव की है ? शास्त्र तो

कहता है कि सोने और चांदी के, कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत खड़े हो जाएँ और वे सब एक आदमी को सौंप दिये जाएँ, तो भी यदि उसके चित्त मे लोभ की वृत्ति विद्यमान है तो उसे संतोष होने वाला नहीं। समस्त संसार का ऐश्वर्य भी तृष्णातुर को सुखी नही बना सकता। जब यह स्थिति है तो इन भौतिक पदार्थों के पीछे लग कर क्यो अपने जीवन को बर्बाद करते हो? क्यो अपने हाथो अपनी शक्ति को नष्ट करते हो? क्यो असली सुख की उपेक्षा करके मृगतृष्णा के पीछे पागल बने फिरते हो? अनन्त-अनन्त बार इन योजनाओ की चरम सीमा पर पहुँच चुके हो। अनन्त बार ऐसी सफलताएँ मिल चुकी है, परन्तु वे अन्त मे विफलता के रूप मे परिणत हो गई। उस उत्थान ने पतन को उत्पन्न किया। फिर भी तुम समझते क्यो नही हो!

सर्वोपरि विकासयोजना योग की है। ज्ञान दर्शन और चारित्र के विकास की योजना ही सर्वोपरि योजना है। वही विश्व-वन्दनीय बनता है, जो योग-विकास की योजना को चरम सीमा पर पहुँचाता है। यह योजना ही आत्मा का वास्तविक मंगल करने वाली योजना है। जो पुण्यशाली पुरुष इस योगविकास की योजना मे अग्रसर होगा, वह ऐसे विकास को प्राप्त करेगा जिसके पश्चात् कभी ह्रास संभव ही न होगा। वह अक्षय सुख का स्वामी बनेगा।

ब्यावर
२७-७-५६



पशुवध-निरोध

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः ।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ।।

उपस्थित सज्जनो और धर्मबहिनो !

यद्यपि आज भी मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, शरीर में शिथिलता का अनुभव हो रहा है, तथापि आपके सामने उपस्थित हो गया हूँ । एक भाई ब्रजवल्लभदासजी आये थे । उन्होंने कहा—दिल्ली में दिगम्बर जैन समाज की ओर से गोवध-निषेध के सिलसिले में एक सभा होने वाली है । मैं उस सभा में सम्मिलित होने जा रहा हूँ । मुझे यहाँ से कुछ मसाला मिल जाता तो दिल्ली के लोगों के काम आता । अहिंसा एवं गोवध-निषेध का प्रश्न एक सार्वजनिक प्रश्न है और उस पर किसी सार्वजनिक स्थान पर-बाजार आदि में-प्रवचन किया जाता तो अधिक अच्छा था,

परन्तु परिस्थितियो ने साथ नही दिया। फिर भी उनके अनुरोध से सभा मे आ गया हूँ। प्रकृत विषय मे मुझसे पूर्व श्रीचिमनसिह जी लोढ़ा ने और व्रजवल्लभदासजी ने काफी प्रकाश डाल दिया है। मै भी आपको कतिपय बाते बतलाने का प्रयत्न करूंगा।],

सज्जनो ! यह बात निर्विवाद है कि राजसत्ता या सरकार मे भी बड़ी शक्ति सन्निहित है। राजसत्ता भौतिक बल के आधार पर बहुत कुछ कर सकती है। धर्मोपदेष्टा धर्मसभा मे उपदेश करते है। वे श्रोताओ की अन्तरात्मा को जगाने का प्रयास करते है। हृदय-परिवर्त्तन करने की प्रेरणा करते है। किसी चीज के हानि–लाभ जनता के सामने रख देते है। उनका कार्यक्षेत्र यही तक सीमित है। अपनी बात मनवाने के लिए न उनके पास कोई साधन है और न वे किसी अन्य साधन का प्रयोग करना उचित ही समझते है। मगर राजसत्ता सभी उपाय काम मे ले सकती है। उसके हाथ मे शासन-दण्ड है। दंड का प्रयोग करके भी वह अपनी बात मनवाती है। इस प्रकार आदर्श सरकार और धर्मोपदेष्टा का उद्देश्य एक ही होता है कि प्रजा का जीवन सुखमय बने, उसका नैतिक स्तर ऊँचा हो और देश मे शान्ति का प्रसार हो। तथापि दोनो के साधन भिन्न-भिन्न होते है। धर्मोपदेष्टा समाज की सद्भावना पर ही अवलम्बित रहता है, क्योकि उसका क्षेत्र दूसरा है और भावना पूर्वक हुआ परिवर्त्तन स्थायी और आन्तरिक होता है। सरकार की बात विना भावना के भी माननी पडती है, क्योकि दड का भय होता है। धर्मोपदेष्टा मदिरापान की ऐहिक—पारलौकिक हानियॉ बतलाता है और उसकी विरोधी भावना जागृत करके बहुतो को उसका प्रत्याख्यान करा देता है। किन्तु सरकार जब मदिरापान पर कानूनी तौर से

प्रतिवन्ध लगा देती है और उसके लिए दंड व्यवस्था कर देती है तो व्यापक रूप में मदिरापान रुक जाता है। बम्बई प्रान्त की सरकार ने सम्पूर्ण प्रान्त मे प्रतिवन्ध लगा दिया तो भले ही लुक-छिप कर कुछ लोग मदिरापान करते हो, फिर भी बहुत अंशों में तो बंदिश हो ही गई।

भारतवासियो ने जो स्वतंत्रता प्राप्त की है, वह अहिंसा और सत्य के बल से ही प्राप्त की है। भारतीय-स्वातन्त्र्य के सुन्दर सदन का निर्माण इन्हीं सिद्धान्तो से सभव हुआ है। आज भी कांग्रेसनेता बड़े गौरव के साथ यह घोषणा करते है और महात्मा गांधी का उदाहरण पेश किया करते हैं कि उन्होंने अहिंसा और सत्य से स्वतंत्रता प्राप्त करके एक अभूतपूर्व विजय पाई और हम सब को भी उनका अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार अहिंसा और सत्य की दुहाई दी जाती है, किन्तु इनको अमल में लाने का कोई व्यापक विचार नहीं किया जाता। घोषणा करने और योजना घड़ने मात्र से कोई काम चलने वाला नहीं है।

आज देश मे कांग्रेस की सरकार है—केन्द्र मे भी और प्रान्तो में भी। फिर क्या कारण है कि सरकार व्यापक रूप से हिंसा-वंदी के लिए कानून नही बनाती ? जहाँ तक प्रजा की सहमति का प्रश्न है, प्रजा पुकार-पुकार कर कह रही है कि गोवध वंद होना चाहिए। कई प्रान्तीय सरकारों ने, जैसे संयुक्त प्रान्त, पंजाब, राजस्थान, सौराष्ट्र आदि की सरकारो ने अपने-अपने प्रान्तों मे कानून बनाकर गोहत्या वंद कर दी है और घोषणा कर दी है कि जो गोवध करेगा, वह दंड का भागी होगा, तो फिर क्या कारण है कि अन्य प्रान्तो की सरकारें ऐसा नहीं कर सकतीं ? और केन्द्रीय सरकार ऐसा क्यों नहीं करती ? अगर सरकार प्रजा-

मत का सन्मान करती है और प्रजातंत्री होने का दावा करती है तो उसे प्रजा की इस पवित्र इच्छा का सन्मान करना ही चाहिए।

कितने खेद की बात है कि बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि प्रान्तो मे आज भी हजारो गायो का प्रतिदिन निर्दयता के साथ सहार किया जा रहा है। क्या अहिंसा को अपनी नीति का आधार मानने वाले लोगो के लिए यह शोचनीय बात नही है ?

आज दूसरे लोग भी अपने आपको अहिंसा से पीछे हटाते जा रहे हैं। मगर याद रखना, ससार में जो भी थोड़ी-बहुत शान्ति है, वह अहिसा की ही देन है और अहिसा के बिना शान्ति स्थापित होने वाली नही है। यही कारण है कि संसार के सभी धर्मों ने अहिसा को एक पवित्र सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार किया है। यद्यपि सभी धर्म अहिंसा की पूरी शोध के लिए चले है, शोध के क्षेत्र मे यथाशक्य आगे बढ़े है, किन्तु अहिसा का सूक्ष्म से सूक्ष्म जो स्वरूप, जो सिद्धान्त, जैनधर्म ने निरूपण किया है, मै कह सकता हूँ कि शायद ही किसी धर्म ने किया हो। जैनेतर अहिसावादी भद्रपुरुषो ने, धर्मप्रवर्त्तको ने, धर्मसंचालको ने बहुत बड़े रूप मे जंगम जीवो की अहिंसा पर ही विशेष रूप से बल दिया है, किन्तु इस जगती तल पर दो प्रकार के प्राणी है—जंगम अर्थात् त्रस और स्थावर। इनमे से किसी की अहिंसा मनुष्य तक ही पहुॅच कर रुक गई है और किसी की इससे आगे बढ़ी तो पशुओ तक आई, किसी २ ने ज्यादा जोर मारा तो उनकी अहिसा कीड़ी-मकोड़ों तक पहुँच सकी। मगर जैनधर्म के सूत्र महान् है। जैन सूत्रो मे अहिसा तत्त्व का विशद, परिपूर्ण और सर्वाङ्गीण निरूपण किया गया है। जैन सिद्धान्त स्पष्ट शब्दों

मे यह घोषणा करता है कि अहिंसा की माँग या दया की माँग केवल मनुष्यो की ही माग नही है। जिस प्रकार मनुष्यो को अपने लिए अहिंसा की मांग है, अर्थात् मनुष्य अपनी रक्षा चाहता है, अपने आपको कष्ट और घात से बचाकर सुरक्षित देखना चाहता है, उसी प्रकार पशुओ और पक्षियो की भी अहिंसा की मांग है। वे भी अपनी अहिसा चाहते है। कोई भी प्राणी अपनी हिंसा नही चाहता। इतना ही नही, चलते-फिरते प्राणियो, जिन्हें जंगम जीव कहते है, तक ही अहिसा की माग सीमित नहीं है। इससे आगे भी विशाल सूक्ष्म सृष्टि है, जिसे स्पष्ट रूप मे दिव्य चक्षु वाले ही देख सकते हैं और चर्मचक्षु लोग प्रत्यक्ष से नही देख पाते। वह प्राणी सृष्टि क्या है ? जैनशास्त्र उसे स्थावर जीव-राशि कहते है। वह एकेन्द्रिय जीव हैं, उन्हे पांच ज्ञानेन्द्रियों में से केवल एक स्पर्श-इन्द्रिय ही मिली है। उनके कान नहीं, आँख नहीं, नाक नही, रसना नही, सिर्फ शरीर ही है। इस स्पर्शेन्द्रिय के सहारे वे श्वासोच्छ्वास लेते है, आहार आदि अन्य क्रियाएँ भी करते है। उनका जीवन का समग्र चक्र केवल स्पर्शेंद्रिय द्वारा चल रहा है।

स्थावर जीवों की वह दुनिया बहुत पिछडी हुई है। वे अपने जीवन मे ऊपर से बहुत नीचे स्तर पर पहुंच गये हैं। पांच इन्द्रियों से से जिनकी चार इन्द्रियां छिन जाएँ, उनसे अधिक हीन अवस्था और किसकी होगी ? वास्तव मे जीव की इससे ज्यादा दीन दशा दूसरी नहीं हो सकती। मगर इससे यह न समझ लीजिए कि उन्हें वेदना या व्यथा का अनुभव नहीं होता। उनमें भी चेतना का अंश विद्यमान है। वे भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। प्रतिकूल व्यवहार करने से उन्हे भी हमारी तरह कष्ट का अनुभव होता है। भले ही वह अपनी पीड़ा को वाणी द्वारा

व्यक्त नहीं कर सकते, तथापि वेदना का अनुभव तो करते है। उन्हे किस प्रकार वेदना का अनुभव होता है, यह बात श्रीआचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध मे वतलाई है। विस्तारभय से मै संक्षेप मे ही कह रहा हूँ। विशेष जानने की इच्छा रखने वालो को आचारांग सूत्र का अवलोकन करना चाहिए। जैनशास्त्रो मे स्थावर जीवो के जीवन का भी सांगोपांग चित्र अंकित किया गया है।

सज्जनो ! यह पृथ्वी, जल आदि मे रहने वाले एकेन्द्रिय जीव जंगमसृष्टि जीवो से सूक्ष्म है और वे भी जीवित रहना चाहते है—उन्हे भी जीना प्रिय है और मरना अप्रिय है। वे भी अपने लिए अहिंसा ही चाहते है।

अहिंसा जीवन है, अमृत है, प्राणियो का रक्षण है। हिंसा मृत्यु है, विनाश है, विप है, भक्षण है। यह संसार एक दूसरे के रक्षण पर टिका है, भक्षण पर नही। अगर सभी जीव एक दूसरे का भक्षण करने पर उतारू हो जाएँ तो संसार की क्या स्थिति होगी ? क्या इस धराधाम पर पल भर भी चैन किसी को मिल सकेगा ? अहिंसा का दूसरा नाम 'दया माता' है। अगर दया-माता सब के दिल से निकल जाय—जन्म देने वाली माता के दिल मे भी किंचित् मात्र दया का अश न रह जाय तो क्या बालक बड़ा हो पाएगा ? कदापि नही। इसीलिए कहा है—

माता दया ! हो तुझ को प्रणाम,
तेरे विना है जग मृत्युधाम ।
तू ही बचाती अरु पालती है,
दुखी जनो के दुख टालती है ॥

[एक प्रासगिक बात कह देना है। जब साधु-साध्वीजी वाहर से आते हैं तो वहिने गाती है—

म्हारी दया माता, आज सोनारो सूरज ऊगियो।

इन बहिनो के हाथ मे है कि ये सोने का सूरज भी उगा सकती है। गुरुजी के सामने आवे तो सोने का सूरज उगा देवें और जब उनको सिखलाने का और समझाने का समय आवे और उनके जीवन की आलोचना करने का समय आवे, तो उस सोने के सूरज को उदय करने के बदले अस्त करने में व्यस्त हो जाती है। अर्थात् उन्हे शिष्टाचार या अनुशासन आदि के विषय में कुछ कहा जाता है तो वे घबरा जाती है। कुछ बहिनो की शिकायत है कि माताओ के साथ बच्चे आते है और कोलाहल करते है तो महाराज श्री कुछ विशेष कह देते है। ऐसी शिकायत एक बार नहीं अनेक बार आवे तो भी मै इसकी परवाह करने वाला नहीं हूँ। बहिनो! अगर तुम अनुशासन नही सीखोगी और मेरे पढ़ाए हुए पाठ को याद नही रक्खोगी और आवश्यकता होगी तो मै व्याख्यान भी बंद कर सकता हूँ, किन्तु उचित अनुशासन को ढीला नही होने दूंगा। आप स्पष्ट रूप से समझ लीजिए कि व्याख्यान देना मेरे लिए कोई जरूरी चीज नहीं है। मैं आपमें सुनने की योग्यता देखूँगा तो सुनाऊंगा। यदि 'ज्यो-ज्यो दवा की, मर्ज बढ़ता हो गया' की उक्ति चरितार्थ हुई तो फिर दवा की आवश्यकता ही क्या है! बहिनो! मै खुले शब्दो मे कह दूँगा कि अभी तक तो मैंने थोड़ासा ही परीक्षण किया है। सीता वाली अग्निपरीक्षा तो अभी शेष है।'तुम्हे उस परीक्षा के लिए अपने आपको तैयार कर लेना चाहिए। अगर तुम सच्ची गुरु भक्ति वाली उपासिका बनना चाहती हो तो तुम्हे इसके लिए तैयार होना चाहिए। यह मुनि की सभा है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी त्रिलोकबंधु तीर्थंकर भगवान् का प्रवचन यहाँ सुनाया जाता है। श्रोताओ को इस महान् प्रवचन के प्रति भक्तिभाव रखना चाहिए। सभ्यता और

शिष्टता के साथ श्रवण करना चाहिए। किसी भी प्रकार की अशिष्टता, अनुशासनहीनता या अनादर भावना से वीतराग के प्रवचन का बहुमान नही रहता। इस कारण अनुशासनहीनता मुझे पसंद नहीं। बाद मे आना, दूसरे श्रोताओ को लांघ कर आगे बढना और बीच मे से उठ कर चल देना, यह सब मेरे लिए असहनीय है। हॉ, अपवाद रूप मे कभी किसी को ऐसा करना पड़े तो बात दूसरी है।

जोधपुर मे भी बच्चों के कारण व्याख्यान मे ऐसी गड़बड़ होती थी। बहिनो को इस सबंध मे काफी समझाया गया, मगर जब उन्होने अपना रवैया न बदला तो मुझे अनुशासन इतना कठोर करना पडा कि कोई बाई इधर उधर घूमने वाले बच्चे को भी साथ न लावे। शान्तिपूर्ण वातावरण मे व्याख्यान होने का अन्य उपाय भी क्या है?

आजकल होता क्या है? बहूजी अपनी सासूजी को कहती है—इस छोकरे को भी स्थानक मे ले जाओ, क्योकि यह यहाँ गड़बड़ करता है। मानो, स्थानक ही उन्हे गड़बड़ कराने को मिला है! बालक को खेलाना गुनाह नहीं, पर गड़बड़ कराना गुनाह है। यहां आने का प्रयोजन अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करना है। आप स्वय ज्ञान प्राप्त न कर सके और दूसरों की ज्ञान प्राप्ति मे भी विघ्न उपस्थित हो, क्या यह आपको पसन्द है?

बालक अबोध होता है। वह नहीं समझता कि किसी की ज्ञान प्राप्ति में बाधा डालने से अन्तरायकर्म का बंध होता है। मगर आपको तो यह बात समझनी चाहिए। फिर आप क्यो ऐसा संयोग मिलाती है कि बेचारा अबोध बालक ज्ञानान्तराय कर्म के बंध का भागी हो? मै आपके बालको को इस कर्मबन्ध

से बचाना चाहता हूँ तो आपको अप्रिय लगता है। आप बालक को खिलाना-पिलाना और सजाना ही समझती है या उसकी आत्मा के हित का खयाल करना भी जानती है?

बहिनो! आप सयानी है। भगवान् ने चार तीर्थों में आपकी भी गणना की है। मै आपको हित की ही बात बतला रहा हूँ। मै आपका शुभचिन्तक हूँ और आपका भला चाहता हूँ। बीमार को अपनी बीमारी नहीं मालूम होती। अपनी भूलों की ओर सहज ध्यान नही जाता, दूसरा बतलाने वाला हो तो मालूम हो जाती है। उपचार के विषय मे वैद्य या डाक्टर को सर्वाधिकार प्राप्त होते है। लगाने की दवा से रोग जाने वाला हो तो वह दवा लगा देता है। खाने से बीमारी मिटती हो तो खाने की दवा देता है। मीठी दवा से काम चलता देखता है तो मीठी दवा देता है। आवश्यकता होती है तो कड़वी दवा भी देनी पड़ती है। चिकित्सा रोग पर निर्भर है। चिकित्सक को रोगी से दुश्मनी नहीं, वरन् उस पर दया भाव है। आपको अशिष्टाचार और अनियंत्रित रहने की बीमारी है और यह बीमारी नवीन नहीं, बहुत पुरानी है—जीर्ण हो चुकी है। आपको मीठी दवा खिलाने वाले बहुत आये है। गिलास के गिलास पिला दिये है। मगर आपकी बीमारी मिटी नहीं। आपने अनुशासन का पाठ पढ़ा नहीं। मै आपको वही पाठ पढ़ाना चाहता हूँ। आपने मुझे गुरु रूप मे माना है तो गुरु बन कर ही रहूँगा। हाँ, मेरी भूल होगी तो झुक जाऊँगा, किन्तु अनीति के आगे झुकने वाला नहीं। अगर आप ठीक ढग से सुने तो मुझे कहने की आवश्यकता ही क्यों हो? जब आप गलती करती है, तभी मुझे नियंत्रण रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। साधुमर्यादा के अनुकूल गरम-नरम शब्द कहने पड़ते हैं।

बहिनो ! मै तुम्हारा हित चाहता हूँ। तुम्हारे पिछड़े जीवन को ऊंचा उठाना चाहता हूँ। किन्तु सहन किये बिना काम नहीं बनेगा। कुंभार ने चूल्हे पर हंड़िया चढ़ाई। खिचड़ी रंधने लगी। कुंभार पास मे बैठा था। तब हंड़िया बोली—

आली थी तब कूटी थी, काची थी तब कूटी थी।
अब कूटे जो मोय, तो खबर पड़ा दू तोय ॥

खिचड़ी खदबद-खदबद करने के बहाने कहती है—देख, तूने मुझे खूब कूटा, चाक पर चढ़ा, कर घुमाया और आग मे पकाया। जब मै कच्ची थी, तब मार खा ली। अगर अब मुझे कूटेगा तो मजा चखा दूंगी। तेरी खिचड़ी-विचड़ी सब चूल्हे मे डाल दूंगी।

तो मै समझ रहा हूँ कि चातुर्मास का समय है। वर्षा से मिट्टी गीली हो रही है, आपको कुछ शब्द-योजनाओ द्वारा सुसंस्कारित करके सुन्दर पात्र का रूप दे दूं। वर्षाकाल निकल जाने पर मिट्टी सूख जाती है। उसे कूट-पीट कर पात्र बनाना कठिन होता है। जैसे कुंभार ऊपर से पात्र को ठोकता है, परन्तु भीतर उसकी रक्षा के लिए एक हाथ लगाये रहता है कि कहीं फूट न जाय। इसी प्रकार मै साधुभाषा मे थपथपी जगाता हूँ, फिर भी अन्दर से आपका भला चाहता हूँ। इतना शुभचिन्तक होने पर भी अगर कोई उलटा ही अर्थ लगाता हो तो उसके भाग्य की बात है। मेरे अन्त.करण मे आपके प्रति एकान्त करुणा का ही भाव है।]

अच्छा, इतने प्रासंगिक वक्तव्य के पश्चात् मूल विषय पर आ जाएँ। मै अहिंसा के विषय मे कह रहा था। मगर जिसे

उठने बैठने का और सभा-सोसाइटियो के नियमो का भी बोध नही है, वह अहिंसा जैसे मार्मिक सिद्धान्त को, जटिल विषय को, मोक्ष की सर्वोपरि साधना को कैसे समझ सकेगा?

अहिंसा के जटिल प्रश्न को सब अहिंसावादी सुलझाने के लिए चले और किसी न किसी हद तक पहुंचे भी। उन्होंने इस विषय मे जो कुछ जाना, संसार के सामने रख दिया। भगवान् महावीर भी चले और उनसे पहले के तीर्थंकर भी चले और सभी तीर्थंकरो ने अहिंसा भगवती का अतीव सुन्दर और परिपूर्ण चित्र जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया। चित्र मे टांगे हो और धड न हो तो काम नहीं चल सकता। जिस प्रकार पुरुष का सुन्दर चित्र निर्माण करने के लिए सब अंगो और प्रत्यंगो का उचित सन्निवेश करना होता है, अन्यथा वह चित्र अधूरा रह जाता है, इसी प्रकार पुरुष का सुन्दर चित्र निर्माण करने के लिए सब अंगो और प्रत्यंगों का उचित सन्निवेश करना होता है, अन्यथा वह चित्र अधूरा रह जाता है, इसी प्रकार अहिंसा के चित्र का चित्रण करने के लिए स्थूल अहिंसा के स्वरूप को भी बतलाना पड़ता है और सूक्ष्म अहिंसा का भी वर्णन करना पड़ता है। तभी अहिंसा का परिपूर्ण चित्र अंकित होता है।

लाहौर से निकलने वाले उर्दू के एक पत्र का विशेषांक निकला था, जिसमें भगवान् महावीर के चरित्र का विशेष रूप से वर्णन था। जैन और जैनेतर विद्वानो ने उसमे भगवान् का आदेश, उपदेश और मिशन क्या था, उन्होंने संसार मे आकर क्या महत्त्वपूर्ण कार्य किया, इत्यादि बातों का परिचय दिया था। महात्मा गांधी ने भी जेल में से उसके लिए एक लेख भेजा था। उस लेख के भाव अभी तक मेरे दिमाग में चक्कर काट रहे हैं। थोडे शब्दों

मे गांधीजी कहते है—मैने जैन और जैनेतर सब सम्प्रदायो के सिद्धान्तो का अध्ययन किया, मनन किया और उन्हे खूब समझाने की कोशिश की और मुझे बहुत कुछ मिला भी। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठि।' जो गोता लगाता है, उसे मोती मिलते है। जो ढूंढ़ते है, वही ढूढ़क कहलाते है। कई लोग हमें ढूंढ़िया कहते हैं। वे तो चिढाने की दृष्टि से कहते है किन्तु चोरी थोडे ही की है कि हम चिढ़ जाएँ। हमे नाराज होने की आवश्यकता नही। जो ढूंढ़िया अर्थात् तत्त्वगवेषक होते है, उन्हीं को तत्त्व की प्राप्ति होती है।

हाँ, तो गांधीजी ने उस विशेषांक मे लिखा था कि भारतवर्ष मे यदि कोई अधिक से अधिक अहिसा का विचारक और प्रचारक हुआ है, तो वे भगवान् महावीर हुए है। यह महात्मा गांधी का मन्तव्य है। उन्होने किसी की खुशामद मे आकर या किसी की सन्तुष्टि के लिए यह शब्द नही लिखे है। गाधीजी लिखने और बोलने मे बहुत सावधान थे। तोल-तोल कर शब्दो का प्रयोग करते थे और किसी के लिहाज़ मे आकर अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल कोई बात नही कहते थे। अतएव स्पष्ट है कि भारतवर्ष को अहिसा की बहुत बड़ी देन भ० महावीर ने दी है। भारतीय भगवान् महावीर के ऋणी है। महावीर स्वामी ने अहिसा को मनुष्यो, पशुओ अथवा कीड़ो-मकोडो तक ही सीमित न रखकर विशाल और विराट रूप मे हमारे समक्ष रक्खा है। उन्होने अहिसा को एक विश्वव्यापी सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया है। भगवान् महावीर ने अहिसा के विषय में समग्र सीमाओ को तोड़ दिया और स्पष्ट शब्दो मे निर्घोष किया कि अहिंसा किसी जीवजाति तक सीमित नहीं रह सकती, क्योंकि सभी जीव जीना

चाहते हैं और कोई भी मरना नहीं चाहता। यह बात नहीं है कि अमुक जाति के जीव ही जीना चाहते हो।

भगवान् महावीर ने खुले शब्दो मे क्या सबक सिखाया? अहिंसा के सीधे-सादे और सहज बुद्धिगम्य स्वरूप का निरूपण करते हुए उन्होंने अहिंसा का एक निराला ही चित्र पेश किया। उनका अहिंसा-संबंधी उद्घोष इस रूप मे गूंज उठा था कि—

सव्वे जीवा वि इच्छंति. जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

अर्थात्—सृष्टि से समस्त प्राणी जीने की ही इच्छा करते हैं, कोई भी मृत्यु को पसंद नहीं करता। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ मुनि घोर प्राणीवध के सर्वथा त्यागी होते हैं।

सज्जनो! यह सुधास्राविणी वाणी यह अमृत-मंत्र किसने सुनाया? मानव जाति के लिए यह पावन वाणी भगवान् महावीर के मुखकमल से ही निर्गत हुई थी। इसी पावन मंत्र की आराधना करके वे स्वयं परमोत्तम पद पर प्रतिष्ठित हुए थे, नर से नारायण बने थे, भक्त से भगवान् बने थे। इसी मंत्र के अनुष्ठान से वे नरेन्द्रों और देवेन्द्रों के उपास्य बन सके थे। मगर यहां एक बात ध्यान रखने की है। अपने युग के सर्वश्रेष्ठ अहिंसा के प्रणेता होने पर भी भगवान् ने स्वयं श्रेय नहीं लिया। उन्होंने यह नहीं कहा कि मैंने अहिंसा के महान् मंत्र की खोज की है। उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त तीर्थंकरों को इस श्रेय का पात्र बतलाया है और ऐसा करके अहिंसा की सनातनता को भी प्रकट कर दिया है। भगवान् कहते हैं—

जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो, ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासन्ति, एव पण्णविन्ति, एव परूविंति—सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिधित्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए।

—श्रीमदाचारांग, प्र० श्रु०

अर्थात्—जो अर्हन्त भगवन्त अतीत काल मे हुए, वर्त्तमान मे हैं और भविष्य मे होगे, उन सबका एक ही कथन है, एक ही भाषण, निरूपण और प्रज्ञापन है कि—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन नहीं करना चाहिए, उसे अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, गुलाम बना कर नही रखना चाहिए, परिताप नहीं पहुँचाना चाहिए और उपद्रव नहीं करना चाहिए। यह अहिंसाधर्म शुद्ध है नित्य है और शाश्वत है।

तात्पर्य यह है कि अहिसा-भगवती मनुष्य के जीवन को उच्च, उदार, शान्त, निराकुल और पवित्र बनाने वाली है। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र मे अहिंसा की प्रतिष्ठा है, समझ लीजिए कि वहाँ आनन्द ही आनन्द है। और जहाँ हिंसा रूपी पिशाचिनी का ताण्डवनृत्य हो रहा हो, जहाँ हिंसा-राक्षसी नंगा नाच नाच रही हो और प्राणियो को निगलने के लिए अपनी विकराल जिह्वा लपलपा रही हो, समझ लो, वहां शांति के लिए कोई अवकाश नही है। वहाँ संहार है, मारकाट है, खून-खच्चर है, हाय-हाय है। अहिंसा की सुरम्य और शीतल छाया मे ही जगत को विश्रान्ति और शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

आज के ससार के सूत्रधार बड़ी-बड़ी शान्ति योजनाओ के नाटक रचते हैं। अनेको देशों के शासक मिलते हैं और विविध

प्रकार की विधियाँ उपस्थित करते हैं। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि वहाँ प्रायः वाक्पटुता ही काम करती है, हृदय की विशुद्धता काम नही करती। वे शान्ति-स्थापना की बात करते हैं, किन्तु उनके हृदय में भावना दूसरी ही होती है। 'मुँह में राम बगल मे छुरी' वाली कहावत चरितार्थ होती है। ऊपर से पानी कितना ही क्यो न डाला जाय, किन्तु हृदय के भीतर का सन्ताप मिटने पर ही शान्ति होगी। जब तक शान्तिप्रद तत्त्व अन्दर नहीं पहुँचेगा, मानव-मन मे अहिंसा की भावना जागृत नहीं होगी, तब तक शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती।

सज्जनो! आज प्राणियों का अत्यधिक हनन हो रहा है। ब्रिटिश-शासनकाल मे भी हिंसा होती थी। अंगरेज बडी कूटनीति से काम लेते थे। कभी हिन्दुओ को उठा देते और मुसलमानों को दबा देते थे तो कभी मुसलमानों को बढ़ावा देकर हिन्दुओं को दबा देते थे। किन्तु उस समय भी गोरक्षण के लिए आन्दोलन होता था। विराट सभाएँ होती थीं और प्रचुर परिमाण में प्रचार भी किया जाता था। अनेक वीर पुरुषो ने गोरक्षा के निमित्त अपने प्राणो की आहुति भी दी थी, जिसके फल स्वरूप ब्रिटिश सरकार को कई स्थानों पर नवीन खोले जाने वाले कत्लखाने बंद कर देने पड़े थे और जनता की प्रबल मांग के सामने झुकना पड़ा था। मगर खेद और आश्चर्य है कि आज स्वराज्य मिल जाने पर भी वह हिंसा कम नहीं हुई। भारतवर्ष के धर्मप्रेमी निवासियों ने राष्ट्रीय सरकार से बडी-बड़ी आशाएँ बाँध रक्खी थीं। लोग इस प्रतीक्षा में थे कि हमने कष्ट सहन करके, मुसीबतें झेल कर स्वराज्य का जो अंकुर उत्पन्न किया है, वह मधुर फल देगा, शीतल छाया देगा, अर्थात् शासनसत्ता देशवासियों के हाथ में आने पर भारतीय संस्कृति के पवित्र और उज्ज्वल अंश अधिकाधिक चम-

रुकेंगे, हिसाबदी के द्वारा हम विश्व के सामने एक देदीप्यमान उदाहरण उपस्थित कर सकेंगे, व्यापक भ्रातृभाव या सर्वभूतमैत्री का भाव दुनिया को सिखाएँगे हत्याएँ बद हो जाएँगी, मगर कितने परिताप का विषय है कि यह प्रजा की आशाएँ धूल मे मिलती जा रही है। भारतीय शासक, जहाँ तक हिसाबन्दी का प्रश्न है, अगरेजो को मात कर रहे है। ऐसी स्थिति मे अगर व्यापक रूप से असन्तोष फैल जाय तो कोई आश्चर्य की बात नही।

जब सरकार कोई कर्त्तव्य कार्य न करती हो, अकर्त्तव्य कार्य करने पर उतारू हो, देश की पुरातन और श्रेय संस्कृति की जड़े उखाड़ फैक देने के लिए उद्यत हो, तो प्रजा का अधिकार है कि वह अपना विरोध प्रदर्शित करे। प्रजा को जो विरोधी तत्त्व दृष्टिगोचर हो, प्रजा के लिए हानिकारक जो बाते हो, उन्हे दृढ़ता और निर्भीकता के साथ सरकार के सामने उपस्थित करना चाहिए। अगर सरकार अपने कदाग्रह पर जमी रहती है और प्रजा की धर्म-नीतिसम्मत एवं हितकर बात भी नही सुनती, तो प्रजा उस सरकार को बदल कर दूसरी सरकार भी बना सकती है।

बच्चा, माता-पिता के सामने अपना दुःख प्रकट करता है। सरकार प्रजा के लिए माता-पिता के समान है। उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रजा की उचित मागो की पूर्त्ति करे।

मनुष्य की भावना यदि पवित्र है और प्रयास यदि बुद्धिमत्तापूर्ण है, तो मनुष्य को सफलता मिली है, मिल रही है और मिलेगी। किन्तु एक बात याद रखना और सावधान रहना कि जिनका ध्येय पवित्र होता है, लक्ष्य स्पष्ट होता है, तो मामला

ठीक बनता है और यदि ध्येय कुछ और ही हो और प्रचार कुछ और ही हो तो टट्टी की ओट मे शिकार खेलने से सफलता नहीं मिलती। अहिंसा की दृष्टि से गोरक्षा के लिए जितना भी आन्दोलन कर सको, वह थोड़ा है। प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि वह इस विषय मे जो भी प्रयास कर सकता हो, अवश्य करे। किन्तु स्वार्थबुद्धि से अथवा दलबंदी की भावना से मत करो। दर्द कहीं हो और हाथ कहीं लगाया जाय तो रोग शान्त नहीं हो सकता। ऐसा करने से प्रश्न उलझन मे पड़ जाता है और ईमानदारी से कोशिश करने वालो के काम मे भी बाधा पडती है।

जैनदर्शन अतीव उदार दृष्टि वाला है। वह त्रस और स्थावर प्राणी मात्र की रक्षा चाहता है और अभयदान को सर्वोत्तम दान प्रतिपादन करता है। आगम में कहा है—

सव्वेसु दाणेसु अभयप्पयाणं।

अर्थात् अभयदान सभी दानो मे उत्तम है।

अन्य आचार्य भी कहते है—

तुरगशतसहस्र गोकुल भूमिदानम्,
कनकरजतपात्र मेदिनी सागरान्ता।
सुरयुवतिसमानं कोटिकन्याप्रदानम्,
तदपि न भवति अभयदान प्रधानं॥

शास्त्रकारों ने खुली घोषणा की है कि बड़े से बड़ा दान है तो वह अभयदान है। लाखो घोड़ो का दान दे दो, गोकुल दे दो, भूमि का दान कर दो, सोने-चांदी के पात्र दे दो, समुद्र तक की भूमि का राज्य दे दो अथवा अप्सराओं के समान कोटि-कोटि

कन्याओ का दान कर दो, मगर अभयदान के समान महान दान कोई नहीं हो सकता। अभयदान प्राप्त करके जीव को जितना आनन्द लाभ होता है, उतना किसी भी दान से नही हो सकता। अतएव मूक पशुओ की पुकार सुनना, उनका दुख दूर करना और उन्हे अभयदान देकर निर्भय करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है।

बेचारे पशुओ को मनुष्य के समान व्यक्त वाणी प्राप्त नहीं है। वे अपना दुःख आपको सुना नही सकते। अतएव उन असमर्थ जीवो के प्रति तुम्हारे हृदय मे गहरी सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। उन्हे तुम्हारा सहयोग मिलना चाहिए। उन्हे अपना छोटा भाई समझ कर सुखी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। कहा भी है—

दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाणं,
सच्चेसु वा अणवज्ज वपति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेर,
लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।

सुधर्मा स्वामी भगवान् महावीर की उपमाओ का वर्णन करते हुए कहते है—जैसे समस्त दानो मे अभयदान प्रधान है, सत्य मे निरवद्य सत्य श्रेष्ठ है, समस्त तपो मे ब्रह्मचर्य उत्तम है, उसी प्रकार समस्त धर्मप्रवर्त्तको मे ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर उत्तम है।

श्रीठाणांगसूत्र मे भगवान् ने नौ प्रकार का पुण्य और दस प्रकार का दान बतलाया है। इस प्रकार जैन सिद्धान्त दान-पुण्य को पर्याप्त महत्त्व प्रदान करता है। वह प्राणीमात्र की रक्षा

का बड़े ही प्रभावशाली शब्दों मे निरूपण करता है। मगर उन्हीं सूत्रों के आधार पर सिर मुंडाने वाले और भिक्षालाभ करने वाले हमारे कुछ पड़ौसी भाई दया और दान को अपने तक ही सीमित रखते है। वे उन्हे प्राणीमात्र के लिए लागू करने का निरोध करते हैं। अपने लिए दान देने मे वे धर्म कहते हैं और किसी दुखिया को खिलाने, पिलाने और औषध आदि देने में एकान्त पाप बतलाते हैं। उनके मत के अनुसार मरते प्राणी पर अनुकम्पा करके उसे मौत से बचा लेना भी पाप है। जब इस अशास्त्रीय एवं लोकविरुद्ध मान्यता के चक्कर में पड़े लोगों के भ्रम का विचार आता है तो अतिशय खेद होता है। जैनशास्त्र दया-दान के लिए प्रसिद्ध है। उनमे बड़े ही सुन्दर ढंग से दया-दान का प्ररूपण किया गया है।

जब जैन तीर्थङ्कर संसार को त्याग कर साधु बनने की तैयारी करते हैं, तो वे दुनिया को दान का मंत्र सिखलाते हैं। एक वर्ष तक वर्षीदान देते हैं। अगर दान देने में पाप होता तो तीर्थंकर क्यों दान देते? वे प्रतिदिन एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख सैनैयों का दान करते है। यह दान साधुओं को नहीं दिया जाता—सर्वसाधारण को दिया जाता था। फिर क्यो यह कहा जाता है कि साधु के सिवाय अन्य को दान देना पाप है? क्या दिव्यज्ञानी तीर्थङ्कर दीक्षा लेने से पहले जान-बूझ कर पाप का आचरण करते हैं? शास्त्रकार उस दान का गौरव के साथ उल्लेख करके क्या संसार के लोगों को पाप मे प्रवृत्त करना चाहते हैं? क्या केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद किसी तीर्थंकर ने कहा है कि मैंने वर्षीदान देकर पाप किया था, कोई उसका अनुकरण न करके दान मत देना?

सज्जनो ! तीर्थङ्करो ने दान देकर दानधर्म का व्यापक रूप जगत् के सन्मुख प्रस्तुत किया है और दुखियो के दुःख को दूर किया है। इतना स्पष्ट विधान होने पर भी जो अपने कदाग्रह का परित्याग नही करना चाहते, उनकी बलिहारी है।

शास्त्रो मे दस प्रकार के दान बतलाये है। उनमे एक भय-दान भी है। जो मन से देना नहीं चाहता है, किन्तु दुष्काल पड़ गया और थानेदार डंडा लेकर आ पहुँचा और डर के मारे देना पड़ा। वही हाल हुआ कि बकरी ने दूध तो दिया, परन्तु मींगणी डाल-डाल कर दिया ! इसी प्रकार डाकू आकर छाती पर सवार हो गए तो जबर्दस्ती देना पड़ा। चार आदमी आगये और शर्मा-शर्मी देना पड़ा तो वह लज्जादान कहलाया। हिंसक, कसाई, मच्छीमार आदि को हिंसा के औजार बनाने के लिए रुपया-पैसा या साधन देना पाप दान है। मगर जब ऐसे प्राणी भी दुखी दशा मे हो, भूख से तड़फ रहे हो, वस्त्र के अभाव मे पीड़ा पा रहे हों, तो उन्हे दयापूर्वक भोजन-वस्त्र आदि देना पापदान नहीं, अनुकम्पादान है। तीर्थंकर भगवान् ने अनुकम्पादान का किसी भी दुःखी प्राणी के लिए निषेध नहीं किया है। दीन-दुखियो के लिए श्रावक का द्वार सदैव खुला रहता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के दान है, उनमे कुछ प्रशस्त भी है और कुछ अप्रशस्त भी हैं, किन्तु अभयदान सब से बड़ा दान है। अभयदान का फल अक्षय होता है। जो प्राणियो को पूर्ण रूप से अभयदान देता है, वह उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इसीलिए ग्रंथकार कहते हैं कि लाखो घोड़े दान मे दिये जाएँ, हजारो गाये दे दी जाएँ, सागर पर्यन्त की भूमि का साम्राज्य दे दिया जाय, सोने-चाँदी के पात्रो का ढेर लगा दिया जाय और करोड़ो कन्याओ का दान कर दिया जाय और इस समग्र दान को तराजू के एक पलड़े पर रख कर

दूसरे पलडे पर अभयदान रक्खा जाय तो अभयदान का पलड़ा ही भारी रहेगा ! अभयदान के सामने उक्त सब दान हजारवें हिस्से के बराबर भी सिद्ध न होगे।

भद्र पुरुषो ! अभयदान की यह महत्ता बतला कर मैं हिंसाबंदी की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है और उसका अनुयायी होने के लिए आपको गौरव होना चाहिए। साथ ही ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता हो, हिंसा की वृद्धि होती हो। जो गौ आदि के मांस का व्यवहार करते हों, बकरे बेचने का या मछली बेचने आदि का धधा करते हो, उन्हे ब्याज पर रुपया देकर आपको उस हिंसा मे सहायक नहीं होना चाहिए। क्योंकि आप उन्हे रुपया देंगे तो वे अधिक हिंसा करेंगे। यह न समझिए कि हिंसा का पाप केवल हिंसाकर्त्ता को ही लगता है। मनुजी ने तो अनेक प्रकार के हिंसक बतलाए है—

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च, खादकश्चेति घातकाः॥

मनुजी के अनुसार हिंसा का अनुमोदन करने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, और खाने वालों को परोसने वाला-यह सब हिंसा के भागी होते हैं। जैसे व्यापार में जो भी हानि होती है, उसे सब भागीदारों को अपने-अपने भाग के अनुसार हानि भुगतनी पड़ती है, उसी प्रकार हिंसा कर्म के भागीदारो को भी उसका फल भोगना पड़ता है। अतएव बहिनो और भाइयो ! आपमे से कइयों ने हिंसक व्यापार करने वालों को ब्याज पर रुपया देने का त्याग किया

होगा, पर जिन्होंने त्याग न किया हो, उन्हे अब त्याग कर देना चाहिए।

(मुनि श्री के इस उपदेश को श्रवण कर प्रायः सभी श्रोताओ ने भविष्य के लिए प्रतिज्ञा की)

इस प्रकार का सहयोग न करने से भी हिंसा-निरोध मे सहायता पहुँचती है। छोटे-छोटे साधनो से भी महान् शक्ति का संचार होता है।

चतुर डाक्टर जब किसी रोगी की चिकित्सा करता है तो पहले रोग की पहचान कर लेता है और फिर उसका उपचार करता है। देश में फैले हुए हिंसा के रोग को मिटाने के लिये भी यह आवश्यक है कि पहले हिंसा के कारणो को पहचान लिया जाय, गोवध के कारणो को समझ लिया जाय और फिर उन स्रोतो को बद कर दिया जाय। तभी हिंसा का प्रवाह रुक सकेगा। जिस जलाशय से जल के आगमन के स्रोतो का प्रतिरोध नहीं किया जाता, उसमे जल आता ही रहता है। हिंसा के प्रवाह को प्रवाहित करने वाले कुछ स्रोत है—

(१) मासभक्षक प्रजा का होना। मांस वृक्ष मे लगने वाली कोई वस्तु नहीं है। मांस की उत्पत्ति प्राणिवध से ही होती है। अतएव मांसभक्षी लोगो की जिह्वा को तृप्त करने के लिए प्राणिवध और गोवध किया जाता है।

(२) अधिक चमड़े का उपयोग करना। चमड़े के लिए भी बहुत हिंसा होती है। खास तौर से मुलायम चमड़े के लिए तो हिंसा होती ही है। क्रूम के बढिया जूते,टोपियो मे लगाने का चमड़ा,

हाथों के दस्ताने, कमर के पट्टे, हैण्डबेग, बिस्तरबंद और तरह-तरह के मनीबेग आदि-आदि जो चीजें मुलायम चमड़े की बनती हैं, समझना चाहिए कि वह हिंसाजनित चमड़े से बनी हैं। इन सब शौक की वस्तुओ के लिए भी गोवध होता है।

जो लोग गोवध या पशुवध के विरोधी है, उन्हे ऐसी हिंसा-जनित वस्तुओ का त्याग कर देना कोई बडी बात नहीं है। इन चीजो के बिना किसी का कोई काम नही रुकता। संसार में सभी अहिंसा के पक्षपाती हैं—किसी न किसी रूप मे सब अहिंसा की उपादेयता अंगीकार करते है। हिंसा को धर्म मानने वाला कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। जिन लोगो ने यज्ञ-याग आदि मे धर्म माना है, उन्हे भी उस हिंसा को अहिंसा कहना पडा। यह सत्य है कि हिंसा, हिंसा ही रहेगी, हिंसा कभी अहिंसा नहीं बन सकती फिर भी याज्ञिक लोग यज्ञ की हिंसा को अहिंसा समझ कर ही धर्म के रूप मे स्वीकार करते है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह उनका मन्तव्य है। तात्पर्य यह है कि भले कोई नासमझी से हिंसा करता हो, मगर उस हिंसा को हिंसा समझ कर वह धर्म नहीं कहता। इससे यह बात भलीभॉति प्रमाणित होती है कि धर्म के रूप मे तो अहिंसा की ही प्रतिष्ठा हुई। यज्ञ की हिंसा वास्तव में अहिंसा नहीं है, क्योंकि उसमे और कसाई आदि द्वारा की जाने वाली हिंसा में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। यज्ञ मे मारा जाने वाला पशु क्या चाहता है? सुनिए—

> कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि,
> होमत हुताशन में कौन-सी बड़ाई है।
> स्वर्गसुख में न चहूँ, देहु मोहि यों न कहूँ,
> घास खाय रहूँ, मेरे मन यही भाई है।

जो तू यो जानत है, वेद यो बखानत है—
जग्य करो जीव पावे स्वर्ग सुखदाई है,
डारे क्यो न वीर ! यामै अपने कुटुम्ब ही को,
मोहि जिन जारै जगदीश की दुहाई है ॥

वह प्राणी रुदन करता हुआ, आंसुओ से मुखड़ा धोता हुआ कहता है—ऐ यज्ञ करने वाले ! निरपराध प्राणियो को भस्मीभूत करने वाले ! घी से सींची हुई इस अग्नि मे मुझे झोकने मे तेरा क्या बड़प्पन है ? कौन-सी तारीफ की बात है ? तू मुझे स्वर्ग भेजना चाहता है, मगर मेरे लिए तो तृण देने वाली वह भूमि ही स्वर्ग है। मैने कब तुमसे प्रार्थना की है कि मुझे स्वर्ग मे पहुँचा दो ! अगर तुम्हारे शास्त्र कहते है कि इस आग मे पडने से जीव सीधा स्वर्ग मे चला जाता है तो यह लाभ तुम्ही क्यो नहीं ले लेते ? तू स्वयं इस आग मे क्यो नही कूद जाता ? अपने कुटुम्ब-परिवार को क्यो नहीं स्वर्ग भेज देता ? मैं प्रभु की दुहाई देकर कहता हूँ—मुझे मत जला—मुझे तेरा स्वर्ग नहीं चाहिए।

यह प्रसन्नता की बात है कि आजकल हिंसात्मक गोमेध, अश्वमेध आदि यज्ञ नहीं होते है और लोकमान्य तिलक के शब्दो मे इसका श्रेय जैनधर्म को है। तथापि यज्ञ का एक विकृत रूप पशु-बलि अब भी अनेक स्थानो पर होती है। उसे भी अहिंसा-प्रेमी सज्जनो को रोकने का प्रयास करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब सभी लोग अपने को अहिंसाधर्मी मानते है तो उन्हे हिंसा को रोकने के लिए प्रयत्नशील भी होना चाहिए और कम से कम हिंसाजनित वस्तुओ का इस्तेमाल तो नहीं ही करना चाहिए।

(३) हिंसा का तीसरा कारण बाजारू दूध, दही, घृत आदि का सेवन करना है। बाजार का दूध पीने वालो ! समझ लो, तुम भी परोक्ष रूप से हिंसा मे सहायक हो रहे हो। जो घोसी आदि दूध लाकर बाजार मे बेचते है, वे गायो-भैसो के बच्चो के प्रति घोर उपेक्षा का भाव रखते हैं। वे उन बच्चो को पूरा दूध या बिलकुल दूध नही देते। अतएव वे बच्चे झूर-झूर कर जिंदगी से हाथ धो बैठते है। कई नगरों मे जन्मे हुए बछडे या पाड़े को मार कर उसकी खाल मे भूसा भर देते है और गाय-भैंस के सामने खड़ा कर देते है। भोली भैस आदि समझती है कि मेरा ही बच्चा है और वह दूध देती रहती है।

इस प्रकार स्वार्थी मनुष्य सब प्रकार के पाप कर डालता है। इस कारण मै कहता हूँ कि आप लोग जितनी मात्रा में बाजार से दूध लाएँगे, उतने अंशो मे बच्चो की हिंसा के भागी बनेगे। इस प्रकार बाजारू दूध भी हिंसा का कारण है। हिंसा का कारण होने के साथ बाजारू दूध प्रायः शुद्ध नही मिलता। किन्तु खेद है कि आप लोग कुत्तो पाल सकते है, बिल्ली पाल लेते हैं, मोटर, साइकिल और रेडियो आदि तो रख सकते हैं, किन्तु आपको गाय-भैंस का पालन करना मुश्किल हो रहा है। आप लोग श्रावक कहलाते है तो आपको प्राचीन श्रावको की पद्धति का विचार करना चाहिए और देखना चाहिए कि वे गोपालन करते थे या बाजारू दूध खरीदते थे ? आनन्द, कामदेव, चूलणी-पिया आदि श्रावक तुम्हारे गुरुभाई थे। भगवान् महावीर के श्रावक थे। उन्होने भगवान की सेवा मे उपस्थित होकर श्रावकधर्म अंगीकार किया था। वे अपने धर्म पर इतने दृढ़ थे कि धर्म-परीक्षा के समय देवो के डिगाने पर भी नही डिगे। वे नाम मात्र के श्रावक नही थे। वेजीटेबिल घी के समान नकली श्रावक नहीं

थे, वरन् शुद्ध एवं असली घी की तरह उनका जीवन था। उपासकदसागसूत्र मे उनका वर्णन दिया गया है। सूत्र मे उनकी जमीन, उनके भोगोपभोग के पदार्थों और साथ ही उनके आध्यात्मिक जीवन का, बारह व्रत आदि का–दिग्दर्शन कराया गया है। जहॉ उनकी भौतिक सम्पत्ति का वर्णन किया गया है, उससे भी कही अधिक उनकी आत्मसाधना रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति का भी सुन्दर वर्णन किया गया है।

सज्जनो ! उन श्रावको मे से किसी-किसी के पास बारह करोड़ सोनैया थे, पाँच सौ हलो की खेती होती थी और अस्सी-हजार गायें थी। शास्त्र के मूल पाठ मे यह वर्णन मिलता है। एक श्रावक के यहाँ पाँच सौ हल चले तो समझ लीजिए कि जमीन का कितना रकबा होगा ? किसी के पास चालीस हजार, किसी के पास साठ हजार और किसी के पास अस्सी हजार गाये थीं। उपासकदसांग मे वर्णित दस श्रावको की गायों की कुल सख्या पॉच लाख तीस हजार होती है। उन श्रावको की छत्रच्छाया मे इतने पशुओ की रक्षा होती थी। इस तरह गोधन की रक्षा से अन्य धन की भी वृद्धि होती थी और जीवनधन की भी रक्षा होती थी। यह पशुरक्षा और गोरक्षा का तरीका है ! मगर आज के भक्त, अहिसा के पुजारो अहिंसा की दुहाई तो देते हैं, किन्तु स्वयं कुछ करना नही चाहते। प्रमादशील होकर सीधा बाजार से दूध खरीदते है और चाहते है कि गोवध बन्द हो जाय ! मैं कहता हूँ, अगर आप शास्त्र म वर्णित भगवान् महावीर के श्रावकों के चरणचिह्नो पर चले तो सरकार से भी न लड़ना पड़े और गोवध भी बन्द हो जाय और साथ ही आपका जीवन भी और का और हो जाय ! यदि सब मिलकर सही निर्णय पर आ जाते है तो कल ही समस्या हल हो सकती है।

भारतवर्ष मे आजकल लगभग ३६ करोड की जनसंख्या है और अनुमानतः ५ करोड़ गायो की संख्या मानी जाती है। इस प्रकार करीब-करीब सात आदमियो के पीछे एक गाय बँटवारे मे आती है। अगर सभी लोग वास्तव मे गोवध के विरोधी हैं तो इतनी गायो का पालन-पोषण करना कोई बड़ी बात नहीं है। क्या सात मनुष्य मिल कर एक गाय का पोपण नहीं कर सकते ? मगर लोगो ने अनेक बहाने खोज रक्खे है। कोई कहता है—गाय को लिलोतरी खिलानी पड़ती है तो कोई कहता है—आरंभ, समारंभ करना पड़ता है। मानों उन्होने लिलोतरी का और आरंभ-समारंभ का सर्वथा त्याग ही कर दिया हो ! कोई मुझसे पूछे कि—महाराज, गाय रख ले और उसे सचित्त वनस्पति और पानी खिलायें-पिलाये ? तो मैं कहूँगा कि क्या तुम दुनिया के सब व्यवहार साधुओ से पूछ कर ही करते हो ? व्यापार करते हो, मकान बनवाते हो, विवाह-शादी करते हो, सचित्त जल और वनस्पति का सेवन करते हो, तब तो हमसे पूछने नहीं आते ! नाना प्रकार के अकृत्य करते समय महाराज से पूछने की आवश्यकता नहीं समझते। फिर गोपालन के लिए ही क्यों महाराज याद आते है ?

गोपालन से प्राणियो की दया और शुद्ध घी-दूध आदि की प्राप्ति होती है। आम के आम और गुठली के दाम वाली कहावत चरितार्थ होती है। इस विपय मे पंजाब मे एक लोकोक्ति और प्रसिद्ध है—मूंज बंगड़ का सौदा और गंगाजी का स्नान ! गंगाजी का स्नान भी कर आएँगे और बाण बटने के लिए मूंज भी लेते आएँगे। इसी प्रकार गाय रखने से उसका रक्षण और तुम्हारा पोपण हो जाएगा। इस लिए सज्जनो ! पहले हिंसा के कारणों को समझो और फिर उन कारणों से अपने को बचाओ।

इसी तरीके से हिंसा से बचाव हो सकता है। यह मत सोचो कि अकेले हमारे किये क्या होगा ? दूसरो की चिन्ता त्याग कर तुम स्वयं अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगोगे तो तुम्हारा हित तो हो ही जाएगा।

(४) गोवध का एक कारण है—यंत्रो की प्रचुरता। आज के इस वैज्ञानिक युग मे मशीनो का अत्यधिक प्रयोग होने लगा है और इस कारण भी हिसा को प्रोत्साहन मिला है। पहले खेती और गाड़ी आदि मे बैलो का प्रयोग किया जाता था। बैलो से जमीन जोती जाती थी और बैलगाडियो से सामान इधर का उधर पहुँचाया जाता था। मगर आज बैलो का बहुत-सा काम ट्रैक्टर और मोटर-ठेला आदि करने लगे है। अतएव बैलो की उपेक्षा की जा रही है और पशुधन के कटने की नौबत आई है।

साधु का काम वस्तु स्वरूप का यथातथ्य निरूपण कर देना है। किस काम मे पुण्य है, किस मे पाप है और किस मे अल्प पाप बहुपुण्य है, इत्यादि विवेचना कर देना ही साधु की सीमा है। उस कार्य को करने या न करने के लिए आदेश देना साधु का काम नही है। साधु अपने सयम की मर्यादा मे रह कर रक्षण का विषय कहते है।

सज्जनो ! हिंसा के जो कारण मैने गिनाये है, वह संक्षेप मे, स्थूल रूप से ही है। इनके अतिरिक्त अन्य कारण भी हो सकते हैं। उन सब का समीचीन विचार करके आप अहिंसा के लिए प्रयत्नशील हो और गांठ बॉध लें कि—

निम्बो न होइ गुलियो, उच्छू न हि होइ निम्बसारिच्छे।
हिसा न होइ सुक्खं, न हु दुक्खं अभयदाणेणं ॥

जैनशास्त्र कहते है—हिंसा करके कोई सुखी नही हो सकता और अभयदान से कोई दुखी नहीं हो सकता। नीम का कितना ही संस्कार क्यों न किया जाय, वह गुड की तरह मीठा नहीं बन सकता और लाख प्रयत्न करने पर भी इक्षु नीम नहीं बन सकता। कितने ही वेदमंत्र पढ़ लो, हिंसा कभी अहिंसा नहीं बनेगी। कोई गायत्री मंत्र पढ़-पढ़ कर संखिया खाले और देखे कि वह मरता है या नहीं। अगर गायत्रीमंत्र संखिया के स्वभाव को नही बदल सकता तो वेद-मन्त्र हिंसा के स्वभाव को भी नहीं बदल सकते।

सज्जनो! वक्त निकल जाता है और बात रह जाती है। आप लोगो को हिंसा के कारणों पर विचार करके, उन्हे दूर करके अधिक से अधिक अहिंसा की आराधना करनी चाहिए। क्या गोवध और क्या अन्य पशुओं का वध, मानवीय सभ्यता के लिए घोर कलक की बात है। मानवजाति उस समय सभ्य कहलाएगी, जब वह पशुओं आदि प्राणियो को अपना लघुभ्राता समझ कर उन पर भी दया दिखाएगी। अतएव अहिंसा के लिए जितना भी धर्मयुद्ध लड़ सको, उतना ही थोड़ा है। प्रजा को सरकार के सामने अपना दुख-दर्द और मन्तव्य रखने का अधिकार है।

हाँ एक सूचना कर दूँ, 'संघे शक्तिः कलौ युगे' अर्थात् इस कलिकाल मे शक्ति संघ मे, संगठन मे, रहती है। बिना कोई संस्था बनाये काम नहीं चलता। व्यापार कार्य मे आपके एसोसिएशन बने हुए हैं तो अहिंसा के लिए भी ऐसा ही एक मोर्चा आवश्यक है, जो उठ कर हिंसावादियों का मुकाबिला कर सके।

इस संबंध मे सब को अन्तःकरण पूर्वक अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर ही आप अहिंसा का प्रचार कर सकेंगे और संसार-समुद्र से तिर सकेंगे और साथ ही ऐहिक जीवन को भी सुखसमृद्धिमय बना सकेंगे। तथाऽस्तु

ब्यावर
२८-७-५६





सम्यग्दर्शन

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधा संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,—
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः, हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

उपस्थित भद्र पुरुषो तथा धर्म बहिनो !

शरीर-कष्ट के कारण कई दिनों तक मैं आपकी सेवा नहीं कर सका। अब भी शरीर अपनी पूर्व स्थिति पर नहीं आ पाया है, फिर भी मैं इससे थोड़ा काम लेने का प्रयत्न कर रहा हूँ। व्याख्यान में जो शास्त्रीय विषय चल रहा था, वह आपके ध्यान

में होना चाहिए। क्या आप बतला सकते है कि क्या विषय चल रहा है ?

'सम्यक्त्व का।'

हाँ, सम्यक्त्व का विषय चल रहा था। आपमे कई सोचते होगे कि इस विषय पर कई प्रवचन हो चुके है और बहुत कुछ प्रकाश डाला जा चुका है, फिर भी क्या कुछ कहना शेष रह गया है ?

सज्जनो! सम्यक्त्व का विषय इतना गभीर और विस्तार-सापेक्ष है कि यदि एक चातुर्मास तो क्या, सैकड़ो जन्म व्यतीत कर दिये जाएँ तो भी थोड़े है। समकित को समझ लेने पर कुछ भी समझना शेष नही रह जाता। एक को साधने से सब सध जाते है। एक तत्त्व को भलीभाँति समझ लेने से सभी तत्त्व समझ मे आ जाते है।

तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन का लक्षण है। अतएव जो सम्यग्दर्शन को समझेगा, वह जीव-अजीव और पुण्य-पाप को भी समझ लेगा। वह कर्मो के आने के मार्ग को—द्वारो को अर्थात् आस्रव को भी जान लेगा। वह कर्मों के आगमन के मार्ग को ही नहीं जानेगा, वरन् सवर के स्वरूप का भी ज्ञाता हो जाएगा। उसने यह जान लिया है कि कर्मो के आने के स्रोत क्या हैं, उनका उद्गम कहाँ से होता है, कर्मरूपी जल आत्म-सरोवर मे किस प्रकार आता है। और यह अगर किसी ने जाना है तो सम्यग्दृष्टि ने ही जाना है। मगर वह इतना ही नहीं जानता, किन्तु यह भी जान लेता है कि कर्मागमन के उन स्रोतो को किस प्रकार रोका जाता है ? किस स्रोत का संवरण किससे हो सकता

है ? इस प्रकार वह संवरतत्त्व का भी ज्ञाता हो जाता है। सम्यग्दर्शन वाले से यह भी अज्ञात नही रहता कि जो कर्म आते है, वे यो ही नही पड़े रहते, किन्तु जीव के साथ ओतप्रोत-एकमेक हो जाते है। वे चार प्रकार से जीव को जकड़ लेते है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, रस (अनुभाग) बंध और प्रदेशबंध, इसी को बंध कहते हैं।

भद्र पुरुषो ! जिस मनुष्य को एक सांकल से, डोरी से या रस्से से बाँध दिया जाता है वह परतंत्र हो जाता है और हिलने डुलने योग्य नही रहता, यदि उसी को चार बंधनो से जकड़ दिया जाय, प्रकृतिबंध ने, स्थितिबध ने, अनुभागबंध ने और प्रदेश बध ने बांध दिया हो, तो विचार कीजिए कि उसकी क्या स्थिति हो जायगी। आशय यह है कि जिसने सम्यग्दर्शन की उपलब्धि की है, उसने यह भी समझा है कि आत्मा के साथ कर्म कैसे बँधते हैं। इन चारो बंधो का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) प्रकृतिबंध—प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। बंध होने से पहले, इस लोकाकाश में कार्मणवर्गणा के जो द्रव्य भरे है, वह सब समान होते है, किन्तु जब आत्मा के साथ उनका संबंध होता है, तब उनमे भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव उत्पन्न हो जाते है। किसी मे आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करने का, किसी मे दर्शनगुण को ढँकने का, किसी मे दुःखरूप वेदना उत्पन्न करने का और किसी में सम्यक्त्वचारित्र आदि उत्पन्न न होने का स्वभाव उत्पन्न हो जाना ही प्रकृतिबध कहलाता है। जैसे मेथी, सोठ या अजवाइन के जो लड्डू बनाये जाते हैं, उनका स्वभाव अलग-अलग होता है। कोई वातनाशक, कोई पित्तनाशक और कोई कफनाशक होता है। इसी प्रकार कर्मों की विभिन्न शक्तियाँ-प्रकृतियाँ को प्रकृतिबंध कहते है।

(२) स्थितिबंध—जो लड्डू बनाये गये है, उनमे अलग-अलग प्रकार के असर दिखलाने की शक्ति है और वात, पित्त तथा कफ का शमन करने की शक्ति है, मगर वह शक्ति सदा काल नहीं बनी रहती। उस शक्ति की कालमर्यादा है। उस मर्यादा तक ही उनमे वह शक्ति रहती है, बाद मे नही रहती। इसी प्रकार बँधे हुए कर्म पुद्गलो मे अमुक काल तक ही आत्मा के साथ एकमेक रहने की कालमर्यादा को स्थितिबंध कहते है। आशय यह है कि जैसे लड्डूओ मे अपना-अपना असर दिखलाने की जो शक्ति है, वह कालिक सीमा के अन्तर्गत है। लड्डू अर्से तक पड़े रहते हैं और समय गुजर जाता है तो उनकी शक्ति स्वय क्षीण हो जाती है, और यदि वे काम मे ले लिये गये तो वे अपना असर दिखलाते है। इसी प्रकार कर्म वर्गणाओ मे जो शक्ति है, वह भी एक नियत समय तक ही रहती है, उससे आगे नहीं रहती। यही स्थितिबंध कहलाता है।

(३) प्रदेशबंध—हिस्सा या अंश को प्रदेश कहते है। सुख-दुःख आदि के रूप मे अपना असर दिखलाने वाले कर्मपुद्गल स्कंध रूप होते हैं। अनेक द्रव्यो के पिंड को स्कध कहते है। एक कर्म फल दे सकता है, मगर एक परमाणु फल नहीं दे सकता। दो परमाणु मिलते है, तब भी वह द्व्यणुक स्कध कहलाने लगता है, परन्तु क्या वह फल दे सकता है? सुख-दुःख उत्पन्न कर सकता है? नही। इसी प्रकार तीन, चार, सख्यात या असंख्यात परमाणु मिल कर और एक स्कंध के रूप मे परिणत होकर भी कोई असर उत्पन्न नहीं कर सकते। उनमे फल को उत्पन्न करने का पावर नहीं आ सकता। अनन्त-अनन्त परमाणुओ के मिलने से जो स्कंध बनता है, उसी मे सुख-दुःख आदि फल को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। इतना बादर रूप धारण करने पर ही

वे कर्मपुद्गल कहलाते हैं और अपना असर दिखला सकते हैं। इस प्रकार थोड़े या बहुत अनन्त परमाणुओं से बनी हुई वर्गणा को प्रदेशबंध समझना चाहिए।

(४) अनुभागबंध—कर्म वर्गणाओं का रस, परिणाम अथवा असर अनुभागबंध कहलाता है। इसे विपाकबंध भी कहते हैं। बँधी हुई कर्मवर्गणाएँ स्थिति पूर्ण होने के समय अपना असर दिखलाती है, अर्थात् सुख-दुःख आदि विपाक को उत्पन्न करती हैं, वह अनुभागबंध है।

इस प्रकार चार तरह से कर्मों का बंधन है। यह बात किसने समझी है? जिसने समकित की प्राप्ति की है, उसने ही बंध के स्वरूप को जाना है। और जो बंध को जानता है, वह निर्जरा को भी जानता है, अर्थात् वह कर्मो को दूर करने के तरीके भी जानता है। बँधे हुए कर्म-पुद्गलो का, उदय मे आने पर, भोगने के पश्चात् हट जाना निर्जरा है। जो कर्म उदय में आ गये है, उन्हे भोगना पड़ता है और वह भोगना दो प्रकार से है—(१) विपाक रूप से और (२) प्रदेश रूप से। कितनेक कर्मों को सिर्फ प्रदेश रूप से भोगा जाता है, विपाक रूप से नहीं भोगा जाता और कुछ कर्म ऐसे भी होते है, जिन्हे विपाक रूप से भी और प्रदेश रूप से भी भोगा जाता है। जहाँ विपाकोदय होता है, वहाँ प्रदेशोदय लाजिमी है, किन्तु जहाँ प्रदेशोदय होता है, वहाँ विपाकोदय की भजना है। अर्थात् विपाकोदय हो भी सकता है और नहीं भी होता। किन्तु जो कर्म उदय मे आ चुके हैं, उन्हें भोगना ही पडता है।

प्रश्न हो सकता है कि उदय में आये कर्मों का भोगना यदि अनिवार्य है तो क्या जो कर्म अभी उदय मे नहीं आए हैं—

सत्ता मे विद्यमान है, उन्हे उदय मे आने देने या न आने देने में जीव स्वतंत्र है ? इस प्रश्न का उत्तर है-हाँ, जीव स्वतन्त्र है। हम उन कर्मों को चाहे तो उदय मे आने दे और चाहे तो उदय में आने से पहले ही उपशान्त कर सकते है। वे कर्म दबाये जा सकते है। जो आग भड़क उठी है, वह दबने की नही, उसे तो बुझाना पडता है। किन्तु जो आग अभी तक भड़की नहीं है, वही दबाई जा सकती है। तात्पर्य यह है कि जो कर्म उदय मे आ गया है, उसे भोग कर क्षय करना पड़ता है और जो कर्म सत्ता मे हैं, उन्हे ज्ञान दर्शन चारित्र रूपी राख से दबाया जा सकता है।

भद्र पुरुषो ! कर्म के इस सिद्धान्त को समझने के लिए बड़े उपयोग की और धैर्य की आवश्यकता है। यहाँ तो मै यही कहना चाहता हूँ कि सम्यक्त्व धारण करने वाले ने निर्जरा भी समझी है।

भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है—अगर कर्म मैल है तो कपड़ा शाश्वत है या अशाश्वत है ? और मैल शाश्वत है या अशाश्वत ?

भगवान् ने उत्तर दिया—कपड़ा अशाश्वत है और मैल भी अशाश्वत है। कपड़ा भी सादि सान्त है और मैल भी सादि सान्त है। जो मैल लगा है उसकी आदि भी है और अन्त भी है।

इसके पश्चात् प्रश्न किया गया—भंते ! क्या जीव भी सादि और सान्त है ? भगवान् ने कहा जीव, जीवभाव से अर्थात् जीवत्वरूप गुण की अपेक्षा अनादि-अनन्त है, क्योंकि जीव के जीवत्व गुण की आदि नहीं है और अन्त भी नही है। किन्तु जीव

गति-परिणाम की अपेक्षा से तथा एकेन्द्रिय आदि जाति परिणाम की अपेक्षा से सादि और सान्त है। पर्यायो की दृष्टि से जीव की आदि भी है और अन्त भी है।

इसी प्रकार कर्म भी किसी अपेक्षा से अनादि-अनन्त और किसी अपेक्षा से अनादि सान्त तथा किसी अपेक्षा से सादि सान्त हैं। जीव के साथ कर्मों का प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है, अतएव कर्म अनादि हैं, और अभव्य आदि किन्हीं-किन्हीं प्राणियो में अनन्त कहा जा सकता है। जो भव्य जीव अनादि-कालीन कर्मप्रवाह को बद करके साधना के द्वारा निष्कर्म हो जाते हैं, उनकी अपेक्षा कर्म अनादि सान्त है। यद्यपि प्रवाह अनादि है, फिर भी कोई भी कर्मविशेष ऐसा नहीं जो अनादि काल से आत्मा के साथ बँधा हुआ हो या अनन्त काल तक बँधा रह सके। सत्तर कोड-कोड़ी सागरोपम काल से अधिक किसी भी कर्म की स्थिति ही नहीं है। इस अपेक्षा से कर्म की आदि भी है और अन्त भी है। इस अपेक्षा से कर्म सादि-सान्त है।

सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों की निर्जरा के तत्त्व को जानता है और मोक्ष तत्त्व को भी जानता है। वह समझता है कि किस प्रकार सवर के द्वारा नवीन कर्मो का आगमन रोक देने पर और पुराने कर्मों को निर्जरा द्वारा दूर कर देने पर ऐसी स्थिति आ जाती है कि आत्मा कर्मों से सर्वथा रहित हो जाता है। वही सर्वथा कर्मरहित अवस्था मोक्ष है। कहा है कि—'कृत्स्न कर्मक्षयो मोक्षः।' अर्थात् 'सकल करम तें रहित अवस्था सो शिव थिर सुखकारी।'

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव ही इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को समझ सकता है। और फिर जानना क्या शेष रह जाता है?

दुनिया कितनी ही बड़ी क्यो न प्रतीत हो, मगर नौ तत्त्वो से बाहर उसमे कुछ भी नही है। नौ तत्त्वो के ज्ञान मे समस्त अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है और सम्पूर्ण विश्व का विज्ञान भी गर्भित हो जाता है। अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रवेश करने वाले मुमुक्षु साधको के लिए यह तत्त्वज्ञान अतीव उपयोगी ही नही, अनिवार्य भी है। इस तत्त्वज्ञान से रहित लोग कितनी ही कठिन साधना करे, मुक्ति नही पा सकते।

मगर इन सब बातो पर विश्वास कौन ला सकता है? जिसकी आत्मा मे सम्यग्दर्शन की दिव्य दीप्ति उदित हो गई है, जिसकी चेतना सम्यक्त्व के अलौकिक आलोक से आलोकित है और जिसने अपनी दृष्टि ने एक प्रकार की अपूर्व निर्मलता प्राप्त कर ली है, वही भाग्यवान् भव्य जीव इन बातो पर विश्वास ला सकता है। जिसे सम्यक्त्व रूपी दिव्य मणि नहीं मिली, जिसकी दृष्टि मिथ्या और विभ्रान्त है, वह तो यही कहेगा कि यह चौफरसी और अठफरसी की क्या खिचड़ो पका रक्खी है? यह सब व्यर्थ की बातें है।

सज्जनो! जिस मनुष्य के शरीर मे पित्त का प्रकोप होता है, उसे सभी पदार्थ कड़ुवे लगते है—

पित्तज्वरवतः क्षीर तिक्तमेव हि भासते।

अर्थात्—पित्तज्वर के रोगी को दूध जैसा मधुर पदार्थ भी तिक्त ही जान पड़ता है।

इसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रकोप से जीव तत्त्व के स्वरूप को विपरीत ही समझता है। उसके चित्त मे तत्त्व के प्रति अरुचि

होती है। मिथ्यात्व उसके मन मे अभिरुचि नहीं उत्पन्न होने देता। यही मिथ्यात्व इन कर्मों का मूल कारण है कहा भी है—

पटोत्पत्तिमूलं यथा तन्तुवृन्दं,
घटोत्पत्तिमूल यथा मृत्समूह'।
तृणोत्परिमूलं यथा तस्य वीज,
तथा कर्ममूलं च मिथ्यात्वमुक्तम् ॥

जैसे तन्तुओ का समूह वस्त्र की उत्पत्ति का मूल है, जैसे मिट्टी का पिण्ड घट को उत्पत्ति का मूल है, और जैसे विविध प्रकार की वनस्पतियों का मूल उनके वीज हैं, इसी प्रकार मिथ्यात्व कर्मों का मूल है।

सत्य तो यह है कि मिथ्यात्व से वढ कर कोई रोग नहीं, मिथ्यात्व से बड़ा कोई अंधकार नहीं, मिथ्यात्व से वडा कोई वैरी नहीं और मिथ्यात्व से वढ़कर कोई विष नहीं। मिथ्यात्व प्राणियों को सव से अधिक दुःख देने वाला है। वह ऐसा विचित्र चश्मा है कि आंखो पर चढ़ जाने पर जीव को सब उलटा ही उलटा नजर आता है।

सज्जनो ! यह मिथ्यात्व कर्म का मुख्य मूल है और मिथ्यात्व का मूल कर्म है। मिथ्यात्व और कर्म का बीज-वृक्ष के समान दोहरा कार्यकारणभाव है। जीव के साथ कर्म कव से और कैसे वँधे हुए हैं, यह एक लम्बी कहानी है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि संसारी जीव अनादिकाल से कर्मों से आवद्ध है। जीव में राग-द्वेष आदि परिणाम अनादिकालीन हैं और वही कर्मों के जनक हैं। इधर कर्म राग-द्वेष परिणामों का उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार की परम्परा अनादि से चली आ रही है।

कर्म जीव के साथ ओतप्रोत हो रहे हैं, तदाकार हो रहे हैं। जैसे तिलों मे तेल, दूध मे घी और मिट्टी मे स्वर्ण समाया हुआ है, इसी प्रकार कर्म और जीव भी एकमेक-से हो रहे है। आपको तिल दीखते है, उनमे समाया तेल नही दीखता, दूध दिखाई देता है, उसमे का मक्खन दिखाई नही देता, उसी प्रकार आप को कर्म नजर नही आते, फिर भी उनका अस्तित्व है। हाँ, कोई-कोई कण मिट्टी मे मिले हुए सोने का नजर आता है। सोना मिट्टी मे मिला हुआ है तो क्या हुआ, मगर स्वर्णकण झलक रहे है। भद्र पुरुषो! उस सोने और मिट्टी को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। जो पृथक्करण की विधि जानता है और उस विधि के अनुसार प्रयोग करता है, वह मिट्टी से स्वर्ण को अलग कर लेता है। तो जिस प्रकार धूलधूणिया अपनी युक्ति से मिट्टी मे से सोना निकाल लेता है, इसी प्रकार साधक पुरुप गुरु की कृपा से, शिक्षा से और साधना से आत्मा मे मिले हुए कर्मरूपी मैल को पृथक् करके आत्मा को शुद्ध स्वर्ण के समान बना लेते है। जैसे गंधी—इत्रफरोश फूलो मे से इत्र निकाल लेता है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुप कर्म-पुद्गलो से अपनी आत्मा को पृथक् कर लेता है।

किन्तु पृथक्करण का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, अतएव इसके लिए बुद्धि आर विवेक की आवश्यकता है। विचारशील साधक अल्प आयास से अधिक लाभ ले सकता है। घसियारे को मिहनत ज्यादा करनी पड़ती है, किन्तु दाम थोड़े मिलते हैं। जौहरी कम मिहनत करके अधिक लाभ पाता है। इसी प्रकार ज्ञानयुक्त क्रिया कम कष्टकर होती है तो भी अधिक फल देती है। मिथ्यात्वी की सारी उम्र की क्रिया भी, सम्यक्त्वी की दो घड़ी की क्रिया की समता नही कर सकती। सम्यग्दृष्टि सीधा चलता है, वक्र नहीं चलता। सम्यग्दर्शनी दो घडी में भी बहुत लाभ कमा लेता

है, जबकि मिथ्यादृष्टि शरीर सुखा देने पर भी टोटा ही उठाता है। यह सब सम्यग्दर्शन की महिमा है। कहा भी है—

यदज्ञजीवो विधुनोति कर्म,
तपोभिरुग्रैर्भवकोटिलक्षैः।
ज्ञानी तु चैकक्षणतो हिनस्ति,
तदत्र कर्मेति जिना वदन्ति॥

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवान् का यह कथन है कि अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव लाखों-करोड़ो भवों मे तीव्र तपश्चरण करके जितने कर्मों का विनाश कर पाता है, ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि पुरुष एक क्षण मे उतने कर्म नष्ट कर डालता है।

सम्यग्दर्शन की इससे अधिक क्या महिमा बतलाऊँ? अतीत काल में जो सिद्ध हुए हैं, वर्त्तमान मे जो हो रहे हैं और भविष्य में जो सिद्ध होंगे, वह सब सम्यग्दर्शन का प्रभाव है। समकित के विना जीव मोक्ष की ओर अभिमुख ही नहीं होता और एक बार सम्यक्त्व हो जाने पर जीव का मोक्ष में जाना सुनिश्चित हो जाता है। इसलिए मै आपको कहने जा रहा था कि आत्मशुद्धि के लिए सम्यग्दर्शन की बड़ी आवश्यकता है। जिसने उस महान् सम्यग्दर्शन को समझ लिया, उसने सभी कुछ समझ लिया।

सज्जनो! मैंने कहा था कि सम्यग्दर्शन को अधिक से अधिक समझने की आवश्यकता है। जब प्रथम कक्षा का विद्यार्थी अपनी कक्षा में अव्वल रहता है, तो आगे की कक्षाओं में भी वह सरलता से सफलता प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत, जिस मकान की पहली बुनियाद ही कमजोर रह गई, उसकी ऊपर

की मंजिले भी कमजोर ही रहेगी। इसी प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ की नीव सम्यग्दर्शन है। वह मजबूत हुई तो आगे की मंजिले भी मजबूत होगी और यदि उसमे ही कमजोरी रह गई तो आगे भी कमजोरी ही कमजोरी समझिए।

भद्र पुरुषो! सम्यग्दर्शन महान् वस्तु है। वह बादशाह के उस डुपट्टे के समान है, जिसमें हीरे, पन्ने, माणक, मोती जड़े हुए है और सोने के तार खिचे हुए है। यह बहुत ऊँची चीज है। अगर शान्ति से उसका मोल करोगे तब तो वह बहुमूल्य है। खीचतान करोगे तो वह फट जाएगा और टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। फिर उसका वह मूल्य नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार भगवान् की वाणी बादशाही डुपट्टा है, किन्तु इसमे खीचतान करने की आवश्यकता नही। केवल समभाव से इसका मोल करना चाहिए। खीचतान करने से मामला और का और ही हो जाता है।

ओसवालो मे एक जाति खीचा है। कल एक भाई रंगलालजी मेरे पास आये तो मैने उनकी जाति पूछी। उन्होने कहा—'खीचा।' तब मैने सोचा—जब ओसवालो मे जाति ही खीचा है, तब इनमे खीचातान हो तो आश्चर्य की बात ही क्या है। पर भाइयो! यहाँ खीचतान का काम नही है। बिना खींच-तान के, सब प्रकार के दुराग्रह और दुरभिनिवेश का त्याग करके भगवान् की वाणी को समझने और समझाने की आवश्यकता है। खीचतान करने से किसी के मतलब का डुपट्टा नही रहेगा। मगर आज कितने ही ऐसे नौनिहाल पूत पैदा हो गये है जो खींच-तान करने मे ही अपनी शान समझते है। किन्तु धर्मबन्धुओ!

मै कहता हूँ कि भगवान् का मार्ग खींचतान का मार्ग नहीं है। वह तो समभाव का, शान्ति का, निष्पक्षता का मार्ग है। याद रखिए, जो चतुर्विध सघ में छिद्र डालता है, और उसे छिन्नभिन्न करने का प्रयत्न करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है। उसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक धर्म की प्राप्ति होना कठिन हो जाएगा।

तो जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ खींचतान नहीं हो सकती। वहाँ तो गम्भीर विचारशीलता ही झलकती है। वहाँ हठ और जिद के लिए कोई स्थान नहीं। हठ और आग्रह वहीं होता है, जहाँ सम्यग्दर्शन की सत्ता नहीं है। अतएव विचारशील लोगों को विशेष रूप से समझना है। भगवान् का जो सुन्दर ज्ञान है, उसे समझने के लिए रुचि, श्रद्धा एवं प्रतीति की आवश्यकता है। कोई कितना ही विद्वान्, ज्ञानी, ध्यानी क्यो न हो, जहाँ तक प्रतीति नहीं होती है, समझाने वाला भी नहीं समझा सकता। मूर्ख के आगे पण्डित को भी मौन होना पड़ता है। प्रसगवशात् एक छोटी-सी बात याद आ गई।

एक पण्डितजी काशी से पढ़ कर, उत्तीर्ण होकर, वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृतियाँ, निघटु, ज्योतिष आदि-आदि सब पढ़े और पुस्तकें साथ लेकर अपने देश की तरफ रवाना हुए। आज तो आवागमन के बहुत-से साधन उपलब्ध हो गये है, पर प्राचीन काल मे प्रायः पैदल ही चलना पडता था। तो वह पण्डितजी सफर करते-करते अपने गांव के पास वाले एक गांव मे पहुँचे। वहाँ वे धर्मशाला के बाहर ठहर गए। लोगो ने उन्हे देखा तो उनके पास जमा हो गए और उनका परिचय पूछने लगे। उन्होंने उत्तर दिया—मैं पण्डित हूँ और काशी से विद्याध्ययन करके आरहा

हूँ। तब उन्होंने कहा—क्या आप हमारे गांव के लट्ठा पण्डित के साथ शास्त्रार्थ कर सकते है ? पण्डितजी ने कहा—जब मैंने ज्ञान सीखा है तो मैं शास्त्रार्थ की भी योग्यता रखता हूँ। मुझे शास्त्रार्थ करने मे कोई आपत्ति नही। लोग लट्ठा पण्डित को बुलाने गये। लट्ठा पण्डित मोटी धोती पहने, मोटी चोटी रखाये, बगलबंडी पहने और माथे पर तिलक-छापा लगाये शास्त्रार्थ करने आ पहुँचे। लट्ठा पण्डित स्थूलकाय थे।

लट्ठा पण्डित बड़े रौब के साथ आए। उन्होने काशी के पण्डितजी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। वह पहले से ही शास्त्रार्थ के लिए तैयार बैठे थे। शास्त्रार्थ के लिए यह शर्त रक्खी गई कि हारने वाला जीतने वाले को अपना सब सामान दे दे। काशी वाले पण्डित को अपनी विद्या पर अभिमान था। अतएव उन्होंने यह शर्त स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ तय हो गया।

अब प्रश्न उपस्थित हुआ कि पूर्वपक्ष कौन करे और उत्तर पक्ष कौन करे ? आखिर निर्णय हुआ कि श्रीमान् लट्ठ पांडे महाशय पहले प्रश्न करे और काशी वाले पंडित उत्तर दे। इसके बाद लट्ठ पांडे ने एक सूत्र का उच्चारण किया। वह सूत्र बडा निराला था। पता नही वह सरस्वती कहाँ से उद्गत हुई थी और किस अलौकिक शास्त्र से उसका सूत्रपात हुआ था ! उन्होने कहा—'खा खा खैया खैया !'

यह अश्रुतपूर्व और अनूठा सूत्र सुना तो विद्वान् पंडित विस्मय मे पड़ गए। सोचने लगे—यह सूत्र न वेदो मे, न पुराणो मे, न स्मृतियो मे और न उपनिषदो मे ही कही आया है। फिर यह कहाँ से टपक पड़ा ?

सूत्र किसी शास्त्र में आया होता तो उसका उत्तर सूझता, परन्तु वह तो मनःकल्पित शास्त्र का समूर्छिम सूत्र था। अतएव उन्हे उसका उत्तार न सूझा और वह सोच-विचार मे ही पड़े रहे। यह दशा देख लोग हल्ला-गुल्ला मचाने लगे, विद्वान् पंडित को ताना मारने लगे और उनका उपहास करने लगे। कहने लगे—काशी जाकर क्या भाड़ झोंकते रहे। खूब पढ़कर आये हो! वहाँ लट्ठ पण्डित का ही बहुमत था। सब ने एक स्वर मे निर्णय दे दिया कि काशी के पण्डित हार गए। कहा भी है—

जैसी देवी, वैसे पुजारी।

अंधे चूहे थोथे धान, जैसे गुरु वैसे जजमान।

तो जैसे गाँव वाले वैसे ही थे उनके पण्डित ! वहाँ काशी वाले पण्डितजी की सुनने वाला कौन था ? लट्ठ पण्डित ने उनकी समस्त पुस्तके और सब सामान ले लिया। वह बेचारे सपरिग्रह से अपरिग्रह हो गए। अपना सा मुँह लिये सीधे गाँव में पहुँचे। बड़े भाई ने पूछा—इस तरह खाली हाथ कैसे आए? पास में कुछ भी सामान क्यो नही है ? पण्डितजी ने सब हाल सुना कर अन्त मे कहा–और तो कोई चिन्ता नहीं, मेरी पुस्तकें चली गईं। पुस्तको के लिए मुझे खेद है। बड़े भाई ने पूछा—लट्ठ पण्डित से किस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ था ? पण्डितजी बोले–विषय कुछ होता तो मैं कब हारने वाला था ? विषय तो कुछ था ही नहीं। उसने एक सूत्र बोला—'खा खा खैया खैया !' यह सुनकर मैं विचार मे पड़ गया और मौन रह गया। गाँव वालों ने कहा—तुम हार गये और मेरा पुस्तको सहित सारा सामान ले लिया।

बड़े भाई ने कहा—उससे तुम्हे शास्त्रार्थ नही करना चाहिए था। उससे तो मै शास्त्रार्थ करूँगा और उसी की भाषा मे उसे उत्तर दूंगा।

पण्डितजी बोले—मगर उसने तो मेरी भी बोलती बंद करदी! बड़े भाई ने कहा—ठीक है, पर वह मेरी जबान बंद नही कर सकेगा।

बड़े भाई ने एक छकडा लिया और दो-चार बोरियो मे छाने भर कर उनका मुँह अच्छी तरह सी दिया। तिलक-छापा लगाया और बाकायदा पंडित का भेष बना लिया। तत्पश्चात् वह उसी गांव मे पहुँचे और उसी धर्मशाला मे ठहरे, जहाँ उनका छोटा भाई ठहरा था। लोगो ने पूछा—आप कौन हैं? उन्होने बतलाया—मै पण्डित हूँ और काशी से पढकर आ रहा हूँ। लोगो ने पूछा—इन बोरियो मे क्या है? तो उन्होने उत्तर दिया—शास्त्र भरे है। तब ग्रामीण लोगो ने कहा—क्या आप हमारे पण्डितजी से शास्त्रार्थ करोगे?

पण्डित बोले—अवश्य करूंगा। देरी का काम नहीं। बुला लो अपने पंडितजी को। मै तैयार हूं।

लोग यह सुन कर खुश हुए, क्योंकि उन्होने सोचा कि इसके पास ज्यादा माल है।

आखिर ग्रामीण लोग लट्ठ पंडित को सजा-धजा कर ले आए। गांव के लोग इकट्टे हो गए। वही पहली वाली शर्त ठहरी मगर इस वार का आगन्तुक पण्डित व्यवहार कुशल था। उसने कहा—मुझे आपकी शर्त स्वीकार है, पर मेरी भी दो शर्तें हैं।

पहली यह कि फैसला करने के लिए आप लोगों मे से ही आधे-आधे दोनों पण्डितो की तरफ हो जाएँ। दूसरी शर्त यह है कि जो सूत्र बोला जाय वह पूरा हो, अधूरा न हो। यह दोनो शर्तें स्वीकार कर ली गईं।

अब शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। लट्ठ पंडित के पास एक ही तत्त्व की पुड़िया थी—एक ही रामबाण सूत्र था—'खा खा खैया खैया।' वही लट्ठ पंडित ने सुना दिया।

यह सुनकर काशी वाले पण्डित का भाई, जो लट्ठ पांडे के अनुरुप ही था, चट बोल उठा यह तो सब के बाद का सूत्र है। इससे पहले के सूत्र तो बोलो !

उसके पक्षपाती लोगो ने कहा—हाँ बिलकुल ठीक कहा है। पहले के सूत्र तो बोलो। 'खा खा खैया खैया' तो कह दिया, किन्तु खाना कब है एकदम ही तो नहीं खा जाता। खाने से पहले और भी कुछ करना पडता है।

दूसरे पक्ष के पण्डित ने और उसके समर्थक लोगों ने कहा—तो तुम्हीं बताओ न, इससे पहले के सूत्र क्या हैं ?

आगन्तुक पण्डित ने कहा—इसमे कौन बड़ी बात है ? यह तो सभी जानते है। यह जो सूत्र कहा गया है सो सब से पीछे का है।

यह लट्ठ पांडे के पास एक ही सोंठ का गांठिया था। कोई भी मर्ज हो और कोई भी माँगे, बस वही सोंठ का गांठिया तैयार है।

हाँ, तो जब लट्ठ पण्डित को उत्तर न सूझा तो खीझकर उसने कहा—'तुम्ही इससे पहले के सूत्र बोलो।'

तब आगन्तुक पण्डित बोला—सुनो, 'खा खा खैया खैया' अन्त का सूत्र है। उससे पहले अनेक सूत्र है और वे इस प्रकार हैं—"जुत्तइ–जुत्तइया, बुब्बइ–बुब्बैया, सिचइ–सिंचैया, गोडइ–गोडैया, कटइ–कटैया, उडइ–उडैया, पीसइ-पीसइया, मडइ-मडैया, पवइ–पवैया, खा खा खैया खैया।"

खाते कब है? सब से पहले खेत को जोतते है, अर्थात् हल चलाते है, जमीन तैयार करते है, उसके बाद बोते है, फिर सिचाई करते है, फिर निदाण करते है, यानी बेकार घास फैक देते है, ताकि वह खेत की शक्ति को व्यर्थ नष्ट न करे, तत्पश्चात् काटते है, फिर बैलो से गवाते है, जिससे भूसा अलग और अन्न अलग हो जाय। फिर हवा से दोनो को अलग–अलग करते है, तत्पश्चात् उस अन्न को पीसा जाता है, वह आटा बनता है, और फिर उसमे पानी डाल कर गूथा जाता है। इसके बाद वह पकाया जाता है और तब कहीं अन्त मे खाया जाता है। मगर लट्ठ पण्डित तो पहले ही खाने पर उतारू हो गए।

यह सुनकर आप सोचते होगे कि महाराज यह क्या सुनाने लगे, परन्तु भाइयो ! वस्तु के स्वरूप को समझाने के लिए केवलज्ञानियो ने भी उदाहरण दिये है। उदाहरण से सामान्य योग्यता के श्रोता भी सरलतापूर्वक वस्तु-स्वरूप को समझ सकते हैं। तीर्थङ्करो की तुलना मे मै तो तुच्छ बुद्धि वाला हूँ, अल्पज्ञ हूँ, मगर तीर्थङ्करो को भी समझाने के लिए उदाहरण देने पड़े। श्रीमद् ज्ञातासूत्र इन कथानको से भरा पडा है। उन उदाहरणों के द्वारा शास्त्रीय भाव व्यक्त किये गये है।

खाना-पीना आदि दुनियादारी का काम अनादिकाल से चला आ रहा है, परन्तु उस ग्रामीण पण्डित ने तो सीधा 'खा खा खैया खैया' ही कह दिया। क्या आप भी यही चाहते हैं कि चट रोटी पट दाल और मोक्ष मिल जाए! किन्तु मोक्ष क्या इतनी आसानी से मिल सकता है? नहीं, एकदम ही इतनी ऊँची उड़ान नहीं भरी जा सकती। मोक्षप्राप्ति तो सब से अन्त का सूत्र है। सब से पहले तो 'जुत्तइ-जुत्तइया' करना पड़ता है, अर्थात् इस शरीर रूपी खेत मे हल चलाना पड़ता है। जप तप सयम वगैरह की कठोर साधनाएँ करना ही इसमे हल चलाना है। इस शरीर रूपी जमीन को पहले मुलायम करना पड़ता है। श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र के आठवे अध्ययन में बतलाया है—'देहदुक्खं महाफलं।' यदि कोई जमीन को जोते नहीं, फाड़े नहीं, और फल प्राप्त करना चाहे तो यह कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार तप जप सयम पौषध आदि के द्वारा जोते बिना यह शरीर रूपी धरती पोली नहीं होगी और उपजाऊ नहीं बनेगी। ऐसा नहीं होगा कि बिजली के पंखे के नीचे, आराम से गादी-तकिये से चिपटे पड़े रहो और मोक्ष रूपी भोजन मिल जाय! यदि मोक्ष चाहिए तो उसे प्राप्त करने के लिए शरीर को जोतना पड़ेगा और इसके पश्चात् 'वुव्वइ वुव्वैया' करना पड़ेगा, अर्थात् समकित रूपी बीज बोना पड़ेगा। जमीन जोत कर यो ही छोड़ दी जाय और उसमे बीज न बोया जाय तो काम नहीं चलेगा। यों ही भूखे मरने और अज्ञान-तप करने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। अतएव इसमें समकित रूपी बीज डालना आवश्यक है। इसके बाद भी चादर तान कर सो मत जाओ, किन्तु जागृत रहो। उस समकित-बीज को वीतराग-वाणी या सद्गुरु की वाणी रूपी जल से सींचते रहो। बिना सींचे समकित का पौधा मुरझा जाएगा।

और फिर सींचकर ही नहीं रह जाना होगा, बल्कि निदाण भी करना होगा। पृथ्वी की शक्ति को खींचने वाले फसल के जो विरोधी तत्त्व है, उन्हे उखाड़ कर फैंक देने से ही फसल अच्छी तरह बढती है। इसी प्रकार इस शरीर रूपी खेत मे जो क्रोध, मान, माया लोभ, राग-द्वेष रूपी घास उग रही है, उसे विवेक रूपी शास्त्र से उखाड़ फैकना होगा। यह खेती क्यो नही पनप रही है ? इसी कारण कि बीच मे अनावश्यक घास-फूस पैदा हो गया है ! इसलिए राग-द्वेष आदि की झाडियो को काट दो, क्योकि इनसे खेत की शक्ति क्षीण हो रही है। यह विरोधी तत्त्व सम्यक्त्व रूपी फसल को पूरी खुराक नहीं मिलने देते। इसीको 'गोड्इ-गोडइया' कहते है।

जब खेत पक जाता है उसे काटना पड़ता है, इसी प्रकार उदय मे आए कर्मों को समता के शस्त्र से काटना होगा। फिर जैसे फसल को गाहते है, उसी प्रकार कर्मों को भी मर्दन करना पड़ेगा। तदनन्तर जैसे वायु के द्वारा भूसा और अनाज को अलग-अलग करना पड़ता है, इसी भांति जीव और कर्म को भी अलग-अलग करना होगा। फिर अनाज की तरह कर्मों को पीसना होगा और गूंथना होगा। कर्मों को पीसे विना मोक्ष रूपी रोटी की प्राप्ति नहीं होती। यह सब धर्मसाधनाएँ होने पर ही 'खा-खा खैया खैया, होता है, अर्थात् मोक्ष के सुख का उपयोग हो सकता है।

इस प्रकार सब के बाद मे यह सूत्र आया। वह जो लट्ठ पांडे था, सिर्फ 'खा खा खैया खैया' के सिवाय और कुछ नहीं जानता था तो मोक्ष की सागोपांग साधना को कैसे समझ सकता था ? अतएव वह एकसूत्री ग्रामीण पडित हार गया और काशी

के पण्डित का भाई जीत गया। वह लट्ठ पंडित का और अपने भाई का सब सामान लेकर अपने घर आ गया। एक सूत्रियो की, एकान्तवादियो की ऐसी ही दशा होती है। उन्हे सफलता नहीं मिलती। अतएव यदि मुक्ति चाहते हो तो धर्म के सभी साधनो को लेकर चलो।

आज प्राय' देखा जाता है कि सभी क्षेत्रो मे लोग एक-सूत्री हो गये है। जो अर्थोपार्जन मे लगा है, वह धर्म को भूल कर एकान्त रूप से अर्थ का अर्थात् धन का ही गुलाम बन जाता है। जो जिह्वारसिक है, उसे भोजन मे मधुर रस ही चाहिए। उसकी जिह्वा इतनी विकृत हो गई है कि उसे आलू, पिण्डालू, कचालू. रतालू, आदि की अनेक प्रकार की चाटे चाटने को मिलनी चाहिए, उसकी रसलोलुपता यहा तक बढी होती है कि धर्म सुनने मे भी उसे रस चाहिए। अरे दुनिया के लोगों! रस क्या चाहिए ? मे तो कहूँगा कि भोजन की कीमत रस पर निर्भर नहीं है, उसके पौष्टिक तत्त्वो पर निर्भर है। अतएव भोजन में रस को प्रधानता न देकर उसकी पौष्टिकता को प्रधानता देनी चाहिए। मगर आज तुम पौष्टिकता न देख कर केवल चटपटापन ही देखते हो चाहे उसका परिणाम कितना ही हानिप्रद क्यो न हो ! व्याख्यान मे कोई 'ओटा' हो, चुटकुला हो, दृष्टान्त हो, चौपाई, भजन हो तो तुम्हारा मनोरंजन हो, क्योकि तुमने अपने मन को विकृत बना रक्खा है ! मगर भगवान् की वाणी मे मनोरंजक रस न देख कर तत्त्व ही देखना चाहिए। रसिकता हो या न हो, पौष्टिकता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह न समझ लेना कि भगवद्-वाणी मे रस नहीं है। प्रभु के वचनों मे जो अलौकिक रस है, उसके समान तो संसार का कोई दूसरा रस हो ही नहीं सकता। जो भाग्यवान् उस रस का आस्वादन कर सकता है, उसे संसार

के सभी रस फीके जान पडते है। मगर जिसकी रुचि विकृत हो जाती है, उसे वह मधुरतर वाणी नीरस प्रतीत होती है। इस विषय मे मै अभी कह चुका हूँ कि पित्तज्वर के रोगो को दूध भी कटुक प्रतीत होता है। अएतव अपनी रुचि को सुधारो, उसे सही राह पर लाने का प्रयत्न करो। ऐसा करने पर वीतराग-वाणी मे आपको अपूर्व रस की अनुभूति होने लगेगी। उस रस मे पौष्टिकता होगी, संजीवनी शक्ति होगी और अमरत्व प्रदान करने की क्षमता भी होगी।

आशय यह है कि अपने जीवन को एकांगी मत बनाओ। धर्मसाधना को भी स्थान दो और धर्मसाधना के सभी अंगो का यथोचित सेवन करो। कभी मत भूलो कि जो आया है, उसको जाना भी है। जो आये थे, वे सभी गये है। कोई रह नहीं सका तो तुम्हीं कैसे रह सकोगे? हाँ जाने-जाने मे अन्तर है। कोई-कोई तो पापो का पिण्ड लेकर, पापो की भारी गठरी लाद कर जाते है और कोई-कोई अपने भार को हल्का करके जाते है। जो भार को को हल्का करके जाता है, वह उर्ध्वगति करता है और आनन्द ही आनन्द पाता है। इसका विपरोत जो पापो के भार से लदा होता है, वह अधोगति का पात्र बनता है और दुःख पाता है। लघुता ऊपर की ओर ले जाती है और गुरुता नीचे की तरफ घसीटती है, यह कौन नही जानता?

कल श्रमणसघीय मुनि श्री मॉगीलालजी महाराज पण्डित मरण को प्राप्त हुए। दो-तीन दिन पहले मेरे पास दर्शनो के लिए दूसरे मंजिल पर आये थे। उस समय तक किसे कल्पना थी कि वे इतनी जल्दी अपनी सयम यात्रा पूर्ण कर देगे? परन्तु जीवन का कुछ भरोसा नही। यह जीवन अध्रुव है, अशाश्वत है। किसी भी

क्षण समाप्त हो सकता है। अतएव शीघ्र से शीघ्र इससे आत्म-कल्याण का काम ले लेना चाहिए। जीवन-ज्योति को बुझते देर नही लगती, अतः इस रोशनी मे जो मोती पिरोने हो, पिरो लो। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव तथा अन्यान्य बड़े-बड़े प्रतापी महापुरुषो की भी जीवन-ज्योति कायम नहीं रही। जिन देवो ने तेतीस सागरोपम की आयु पाई थी, वे भी एक दिन काल के ग्रास बने। अतएव इस जीवन के द्वारा धर्म की साधना कर लेने मे ही विवेकशीलता है। मुनि श्री मागीलालजी म० तो बड़े ही श्रद्धावान् और धर्मशील सन्त थे। धर्म मे रमे हुए थे। आपने अपनी पुत्री को भी दीक्षा दिलाई और आप भी साथ ही दीक्षित हो गये थे। यद्यपि मुनिजी वृद्ध थे और अन्तिम समय मे उन्होने खमतखामणा करके, संथारा धारण करके अपने मृत्यु काल को भी सुधारा, मगर दुःख इस बात का है कि हमारे एक भद्रहृदय साथी हम से पृथक् हो गए। इस माला का एक मणिया कम हो गया। और खुशी की बात यह है कि जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होने साधु-अवस्था अगीकार की थी, घर-बार छोड़ा था, उसके लिए अन्तिम समय तक उद्यत रहे और यही उनकी विशेषता थी।

सम्यग्दृष्टि पुरुष मे भी ऐसे अवसरो पर चचलता आ जाती है, उसके चित्त मे भी विषाद की लहर उत्पन्न हो जाती है, मगर वह वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञाता होने के कारण शोक और सन्ताप मे तन्मय नहीं होता। अतएव जैसे आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन परमोपकारक है, उसी प्रकार लौकिक दृष्टि से भी उपकारक है। जब वियोग का वज्र किसी व्यक्ति की छाती पर आकर गिरता है, तब यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो उसे धैर्य और शान्ति के साथ सहन कर लेता है। मिथ्यादृष्टि उस वज्र के

आघात से मर्माहत होता है, पीड़ित होता है और उसका हृदय टुकडा-टुकडा हो जाता है। अतएव सम्यग्दर्शन सांसारिक आघातो से रक्षा करने वाले अभेद्य और अमोघ कवच के समान है।

भद्र पुरुषो! सम्यग्दर्शन के प्रभाव से ही सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है और सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने पर भयानक से भयानक आघात भी मनुष्य को व्यथित नही कर पाता। अतएव सम्यग्दर्शन को लौकिक और लोकोत्तर-दोनो दृष्टियो से परम कल्याणकारी जानकर धारण करो और साधना के क्षेत्र मे अग्रसर होओ। ऐसा करोगे तो यहाँ भी सुखी होओगे और आगे भी सुखी होओगे।

ब्यावर
२-८-५६





दर्शनविशुद्धि-भेदविज्ञान

सच्चा भगत बन जाऊँ, भगवान् तुम्हारा अब मैं।

उपस्थित सुखाभिलाषी आत्माओ !

यह सर्वमान्य और निर्विवाद है कि संसार के सभी प्राणी अच्छी और हितकर वस्तु चाहते हैं। सब की इच्छा सुख के पदार्थों के लिए होती है। वे ऐसे ही पदार्थों की शोध में सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु सच्चा सुख क्या है और सुखाभास क्या है? सुखजनक क्या है और दुःखजनक क्या है? सारभूत क्या है और असारभूत क्या है? इस बात का निर्णय करने के लिए निर्णायक बुद्धि की आवश्यकता है। भेदविज्ञान की निहायत जरूरत है। इस विवेक-बुद्धि के अभाव में मनुष्य सुखकर पदार्थों को ग्रहण करके सुखी नहीं बन सकता। अब प्रश्न है—भेदज्ञान क्या है?

सार-असार पदार्थ आपस में मिले हुए हैं। जीवन का सम्मिश्रण हो रहा है। उनका पृथक्करण करना, अर्थात् सार को

एक ओर और असार को एक ओर करना और इस प्रकार दोनो की छँटनी कर देना भेदज्ञान का काम है।

जब तक मनुष्य मे भेदज्ञान नहीं हो जाता, विवेकदृष्टि की जागृति नहीं हो जाती, तब तक वह सारभूत और सुखद पदार्थ को ग्रहण नही कर सकता, क्योकि उसमे सार-असार के पृथक्करण की योग्यता ही उत्पन्न नही होती। मान लीजिए, एक अंधे मनुष्य के सामने चौवीस प्रकार के अनाजो का सम्मिश्रण करके ढेर लगा दिया जाय। उस ढेर मे मूंग हो, मोठ हो, ज्वार हो, बाजरी हो, मक्का हो, गेहूँ हो और-और भी अनाज हो। फिर उस अंधे से उन धान्यो को पृथक् करने के लिए कहा जाय, तो क्या वह ऐसा कर सकेगा ? नहीं। प्रथम तो दृष्टि अवरुद्ध होने के कारण उसे यही पता नहीं चलेगा कि इस ढेर मे किन-किन धान्यो का सम्मिश्रण हो रहा है ? कदाचित् पता चल जाय तो भी दृष्टिहीन होने से पृथक्करण करना उसके लिए बड़ा कठिन है। इसी प्रकार जो भेदविज्ञान से हीन है, जिसकी दृष्टि आवृत हो रही है, वह सार-असार पदार्थों का पृथक्करण नही कर सकता।

ज्ञानगुण को आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानवरण कर्म का तीव्र उदय होने पर मनुष्य की ज्ञानार्जन करने के लिए की गई कड़ी से कड़ी मिहनत भी निष्फल सिद्ध होती है। एक विद्यार्थी बहुत मिहनत करता है, परिश्रम करता है, सतत् उद्यम करता रहता है, फिर भी उसे सफलता नहीं मिलती। उसे पाठ याद नही होता है। याद करता है और भूल जाता है। यह सब क्यो होता है ? ज्ञानावरण कर्म के उदय की तीव्रता ही इसका कारण है।

इसके विपरीत जिस विद्यार्थी ने ज्ञानावरण कर्म का जितना क्षयोपशम किया है, उसकी बुद्धि मे उसी परिमाण में तीव्रता आ जाती है। किसी-किसी की बुद्धि और स्मृति तो इतनी उग्र होती है कि एक बार पुस्तक देखते ही उसकी समझ मे आ जाती है और पुस्तक का शब्द-शब्द उसको याद हो जाता है। लाला हरदयाल एम० ए० का नाम आपने सुना होगा। वह बड़े क्रान्तिकारी देशभक्त हो चुके है। भारत की स्वाधीनता के लिए काग्रेस से पहले उद्योग करने वालो मे उनकी मुख्य रूप से गणना होती है। वे बड़े ही आला दिमाग वाले माने जाते थे। उनके विषय मे यह प्रसिद्ध है कि जब वे किसी पुस्तक का अध्ययन करते थे तो एक बार देखने से ही उन्हे वह कंठस्थ हो जाती थी।

आत्मा अनन्त ज्ञानमय है। उसमें एक पुस्तक को क्या अखिल विश्व को युगपत् हस्तामलकवत् जान लेने की शक्ति विद्यमान है। चाहिए उसका विकास !

हाँ, तो लालाजी की प्रखर बुद्धि, आला दिमाग और साथ ही उनकी देशभक्ति देखकर अंगरेजों ने उन्हे देश निकाला दे दिया। अगरेजो को भय था कि यदि यह यहां रह जाएगा तो भारतीयों मे जागृति उत्पन्न कर देगा, हमारे प्रभुत्व की जड़ो को हिला देगा और देश भर मे तहलका मचा देगा। हमे यहां से बिस्तर गोल करने पड़ेंगे और समुद्र पार भाग जाना होगा। इस भय से उन्हें निर्वासित कर दिया गया।

कहने का आशय यह है कि आत्मा मे ज्ञान का असीम और अक्षय भंडार भरा है। कोई वस्तु नहीं जो आत्मा के ज्ञान की सीमा से बाहर रह सके। मगर उस ज्ञान को ज्ञानावरण कर्म ने आच्छादित कर लिया है।

सूर्य का कौन-सा ऐसा अश है जहाँ प्रकाश नही है, ज्योति नही है और जिसमे प्रतिभा नही है ? सूर्य का अंग-प्रत्यग प्रखर प्रकाश से परिपूर्ण है। किन्तु जब मेघ की काली-काली सघन घटाएँ घिर आती है तो वे सूर्य को आच्छादित कर देती है और उसके प्रकाश को दबा देती है। मगर याद रखिए, मेघ-घटाएँ कितनी ही निविड़ और सघन क्यो न हो, सूर्य के प्रकाश को नष्ट नही कर सकती, सूर्य के प्रकाश-स्वभाव को मिटा नही सकती, सिर्फ कुछ समय के लिए मद कर सकती है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म आत्मा के ज्ञानस्वभाव को नष्ट करने मे समर्थ नही है। वह आत्मा के ज्ञानगुण को दूर नही कर सकता। अगर आत्मा का ज्ञान-स्वभाव नष्ट हो जाय तो आत्मा का ही विनाश हो जाय, क्योकि स्वभाव के अभाव मे कोई पदार्थ ठहर ही नही सकता। अतएव न कभी ऐसा हुआ है और न होगा। इस चौरासी लाख योनियो वाले संसार मे यदि कोई सबसे गिरी हुई अवस्था है तो वह सूक्ष्म एकेन्द्रिय की है। इनका जीव बहुत पिछड़ा हुआ है। आप कह सकते है कि 'एकेन्द्रिय' क्यो न कहा और 'सूक्ष्म एकेन्द्रिय' क्यो कहा ? मगर इन दोनो मे बहुत अन्तर है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय ऐसे होते है कि अनन्त जीवो का एक ही शरीर होता है। एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय के पाप-पुण्य के भावो मे बहुत बड़ा तारतम्य होता है। बादर एकेन्द्रिय जीवो के सब के शरीर भिन्न-भिन्न होते है, अर्थात् प्रत्येक जीव का अलग अलग शरीर होता है, किन्तु जो जीव साधारण एकेन्द्रिय या सूक्ष्म एकेद्रिय कहलाते है, वे एक ही शरीर मे अनंत रहते है। रहने वाले तो अनन्त है, पर मकान सब का एक ही है ! जो वस्तु बहुतो की समान होती है, वह उनकी साधारण वस्तु कहलाती है। अंगरेजी

मे उसे कॉमन कहते है। तो अनन्त जीवो का एक ही कॉमन शरीर होता है। कहा भी है—

साहारणमाहारो, साहारणमाणपाण गहण च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खण भणिय ॥

अर्थात्—उन साधारण एकेन्द्रिय जीवो का आहार, श्वास, उच्छ्वास, जन्म-मरण आदि सब साधारण–कॉमन–ही होता है। अन्य एकेन्द्रिय जीवो की अपेक्षा इन सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवो के पाप का अधिक उदय है। इसी कारण कहा गया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवो का ज्ञान सबसे ज्यादा पिछड़ा हुआ है। फिर भी उनमे चेतना का अंश विद्यमान है। उनमे दो कुज्ञान और एक दर्शन है, अर्थात् मति-श्रुत-अज्ञान और अचक्षुदर्शन है। यही वहाँ पर चेतना का लक्षण है।

यद्यपि वे जीव निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था मे हैं, तथापि उनकी चेतना विद्यमान है। ज्ञानावरण कर्म मे इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह चेतना का समूल नाश कर दे। बादल मे यह शक्ति नहीं कि वह सूर्य के प्रकाशमय स्वभाव को समाप्त कर सके। अगर जीव की चेतना सर्वथा आवृत हो जाय या नष्ट हो जाय तो जीव, जीव ही न रहे, अजीव हो जाय। किन्तु द्रव्य का कभी नाश नहीं होता तथा एक द्रव्य कभी दूसरे द्रव्य के रूप मे भी नहीं पलट सकता। प्रत्येक द्रव्य नित्य और अवस्थित है। हमे जो भी परिवर्त्तन दिखाई देता है, वह केवल पर्यायो का है, द्रव्य का नहीं और गुणो का भी नहीं।

ज्ञान को आच्छादित करने वाला ज्ञानावरणकर्म छह कारणो से बँधता है:—(१) ज्ञान की प्रत्यनीकता करने से (२)

ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाने से (३) किसी की ज्ञानप्राप्ति में अन्तराय डालने से (४) ज्ञान की आसातना करने से (५) ज्ञान और ज्ञानी के प्रति द्वेषभाव धारण करने से और (६) ज्ञान के प्रति योगो का विसंवाद करने से।

सज्जनो ! अगर आप चाहते है कि भविष्य मे आप ज्ञानी और बुद्धिमान् बने तो आप ज्ञान की प्रत्यनीकता न करें-ज्ञान के विरोधी तथा ज्ञानी के विरोधी न बने, उनके प्रति शत्रुता का भाव न रक्खे, किसी के ज्ञानार्जन मे विघ्न न डाले, ज्ञान देने वाली किसी सस्था को बंद कराने का प्रयास न करे, किसी के ज्ञान के साधनो को नष्ट न करे, छिपाएँ नही, जिस ज्ञानवान् से आपने ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम न छिपावे, यह न कहे कि मैंने तो अपने आप ही पढ़ लिया है, ज्ञान तथा ज्ञानवान् का अपमान या आसातन न करे और इसी प्रकार के कोई अन्य कार्य न करे।

छह कारणो से बाँधा हुआ ज्ञानावरण दस प्रकार से भोगा जाता है। अर्थात् ज्ञानावरण का विपाक दस प्रकार से होता है—पॉच इन्द्रियो का आवरण और पॉच इन्द्रियो के ज्ञान का आवरण।- किसी जीव को कान न मिलना श्रोत्रेन्द्रिय का आवरण है और कान के मिल जाने पर भी उनमे सुनने की शक्ति न होना श्रोत्रेन्द्रिय के ज्ञान का आवरण है। इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियो का न मिलना और चार इन्द्रियो का ज्ञान न मिलना भी समझ लेना चाहिए।

ज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से भेदज्ञान की प्राप्ति होती है, परन्तु दर्शनमोहनीयकर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से उसमें समीचीनता आती है। समीचीन भेदविज्ञान जब तक उत्पन्न नहीं होता, तब तक सार-असार पदार्थों का पृथक्करण

नहीं किया जा सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अंधा मनुष्य जैसे चौवीस प्रकार के धान्यो को अलग-अलग नहीं कर सकता, इसी प्रकार भेदविज्ञान के बिना श्रेयस्–अश्रेयस् का, सार-असार का या तत्त्व-अतत्त्व का पृथक्करण नही किया जा सकता। जिनके पास भेदज्ञान की शक्ति है, वही हंस–पुरुष इनका पृथक्करण कर सकते है, अन्य नही।

दूध और पानी दोनो मिले हुए है और एक पात्र मे रक्खे है। आज ऐसे यन्त्र का आविष्कार हो गया है, जो बतला देता है कि इसमे इतना दूध और इतना पानी है। मगर कोई भी डंडा या कोई भी बांस डाल दिया जाय और माप हो जाय, यह संभव नही है। अथवा यो कह लें कि मिले हुए दूध और पानी को हंस पृथक् कर देता है। हंस की चोच मे एक तरह की आम्लता होती है। ज्यो ही वह दूध-पानी मे डाली जाती है, दूध फट कर गाढा हो जाता है और पानी ज्यो का त्यो तरल बना रहता है। इस प्रकार हस की चोच मे ऐसी तासीर है कि वह दूध और पानी को अलग-अलग कर दे। हंस वाहर से भी और अंदर से भी साफ है, उजला है। किन्तु काक की जो भीतर–वाहर से मैला है, चोच मे वह शक्ति नही कि दूध पानी अलहदा-अलहदा कर सके।

इसी प्रकार जिसमे समदृष्टि है, समीचीन विचारणा की शक्ति है, जिसकी विवेक वुद्धि जाग उठी है, वही सार-असार को पृथक् कर सकता है। यह पृथक्करण की शक्ति सम्यग्दृष्टि रूपी हस मे ही होती है, मिथ्यादृष्टि रूपी काक में नहीं।

सम्यक्त्व कोई काली-पीली वस्तु नहीं है। वह तो अदर की चीज है। वह आत्मा की निधि है। मिश्री में जो अमधुरता

का अंश है, वह मिस्री के कारण नहीं, बल्कि मैल के कारण है। मिस्री के तो कण-कण मे मधुरता भरी है। मिस्री का अस्तित्व ही मधुरता मे है। अतएव हमे और कुछ भी नही करना है, जो आगन्तुक तत्त्व मिस्री की मिठास मे बाधक है, उसका घातक है और जिसने मिठास मे गड़बड़ी डाल रक्खी है, उसको दूर भर कर देना है। मिठास उसमे बाहर से भरना नही है। इसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी मिस्री स्वतः ही मीठी है।

तो सम्यक्त्व मिस्री है, अमृत है और मिथ्यात्व हलाहल विष है, जहर है। वह चेतना शक्ति को मूर्छित कर देने वाला मादक तत्त्व है। अमृत एक ही जन्म मे सुखदायी होता है, परन्तु सम्यक्त्व अनन्त-अनन्त काल तक आत्मा को सुखी बनाने वाला है। अमृत की शक्ति परिमित है, सम्यक्त्व की शक्ति अपरिमित और अनन्त है। सम्यक्त्व के विषय मे कहा है—

धनेन हीनोऽपि धनी मनुष्यो, यस्यास्ति सम्यक्त्वधनं प्रधानम् ।
धनं भवेदेकभवे सुखार्थं, भवे भवेऽनन्तसुखी सुदृष्टिः ॥

ओ पूंजीपतियो! धनकुबेरो! धन का अभिमान करने वालो! तुम इन सोने चांदी और कागज के टुकड़ो से अपने आपको धनी मान कर गुमान कर रहे हो, धनकुबेर समझ रहे हो, परन्तु ज्ञानी जनो के वचन पर तनिक कान दो। सुनो वे क्या कहते है। यद्यपि लौकिक दृष्टि से सोना-चांदी धन कहलाता है और धन वाला धनवान् गिना जाता है, परन्तु धनवान् भी किसी दृष्टि से कंगाल होता है। आप पूछ सकते है कि धनवान् किस दृष्टि से कगाल है? पर भाई, मै तो बनती हुई कह रहा हूँ। यह जो सोना-चांदी, हीरा-पन्ना आदि धन है, यह आत्मा की सम्पत्ति

नहीं है, इसकी बदौलत आत्मा समृद्धिशाली नहीं बनती, आत्मा को सुख नहीं मिलता। यही नहीं, इस धन के प्रति जब आसक्ति होती है तो आत्मा का असली धन–आत्मिक गुणों का ह्रास होता है। इस दृष्टि से ऐसे धनवान् कगाल कहलाते हैं। इसके सिवाय धन के मद में छके हुए धनवान् का धन कहाँ तक साथ देता है, यह तो सभी लोग जानते हैं। यह तो अधिक से अधिक एक भव तक साथ देता है और कभी–कभी इतना भी साथ नहीं देता। कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि मेरा धन जिन्दगी भर मेरा साथ देगा ही देगा। संभव है, यह बीच में ही लात मारकर अलग हो जाय! आप अपनी आँखों से देख रहे हैं कि आज जो लखपति और करोडपति है, कल ही उसका मामला खत्म हो जाता है। वह बदनी (लक्ष्मी) कहती है—'बदनी कहे मैं बड़ी सुरंगी, रात को सेठानी सोई ओढ पहन कर सबेरे रह गई नंगी।'

शाम को सेठानीजी ने अत्यन्त प्रसन्न होकर मणिजटित आभूषण धारण किये, जरी के वस्त्रों का परिधान किया, और फूली नहीं समाई। मगर रात में सेठजी को टेलीफोन मिला, बम्बई में दिवाला निकल गया और सारा मामला समाप्त हो गया! सब गुड़ गोबर हो गया। जो सेठानी सोने से पीली हो रही थी, वही अब दूसरे रंग में पीली पड़ गई! देखो, यह माया बड़ी ही चंचला है। यह साथ देने वाली नहीं है। यह कोई राजीमती के समान पतिव्रता सन्नारी नहीं है, जो केवल मन से अगीकार करने पर ही त्यागे नहीं, किन्तु यह लक्ष्मी सदासुहागिन कुलटा नारी है। इसके लिए बहुत घर खुले हैं। यह एक की बन कर रहने वाली नहीं है। हाँ, मनुष्य का पुण्य प्रबल हो और भाग्य का उदय हो तो साथ दे सकती है, किन्तु एक भव तक ही। धन एक भव से ज्यादा सुख नहीं दे सकता। ऐसा सौभाग्य भी

किसी विरले ही को मिलता है, मगर एक भव से ज्यादा तो किसी भी अवस्था मे साथ जा ही नहीं सकता।

मगर सम्यग्दृष्टि की बात निराली है। वह भव-भव मे उस आनन्द का उपभोग करता है, जिसका कभी नाश नहीं होता। अतएव सच्चा धनी कौन है ?

यस्यास्ति सम्यक्त्व धन प्रधानम् ।

जिसके पास सम्यक्त्व रूपी प्रधान धन है, वही वास्तव मे धनी है, भले ही उसके पास लौकिक लक्ष्मी न हो। क्योकि असली सम्पत्ति, जो साथ जाने वाली है, उसके पास है तो आशय यह हुआ कि चाहे कोई करोड़पति अथवा अरबपति ही क्यो न हो, अगर वह सम्यक्त्व रूपी लक्ष्मी से रहित है, तो धनी नहीं है। वह यदि ज्यादा धन इकट्ठा कर लेगा तो और भी ज्यादा पाप बढ़ा लेगा। इसके विपरीत अगर वह समकिती है तो अवश्य धन का सदुपयोग करेगा। मूर्ख मनुष्य के पास यदि अमृत पहुँच जाय तो वह खराबी कर सकता है, और वैद्य के पास यदि विष भी पहुँच जाय तो वह भी अमृत का काम करता है। समकिती के पास धन होता है तो वह उससे चतुर्विध सघ की सेवा करता है और बिगड़ी को बनाता है, मगर आज तो सघवत्सलता दूर होती जा रही है। आज जो भगवान् का श्रावक कहलाता है और जिसके पास जीवन के उच्चकोटि के सब साधन विद्यमान है, उस सम्यग्दृष्टि होने का दावा करने वाले के पास-पड़ौस मे दूसरा सम्यग्दृष्टि श्रावक दुखी हो रहा है, जीवन की अतिम घड़ियाँ गिन रहा है, अंतिम श्वास पूरे कर रहा है, और धन के अभाव मे निरुपाय है, वह उसे दुखी देख कर भी पसीजता नहीं है, उसके

दिल मे करुणा का प्रवाह नहीं बहता, तो समझ लीजिए कि वास्तव मे वह समकिती नहीं है। शास्त्रकारो ने सम्यक्त्व के पाँच लक्षण बतलाये है—(१) शम (२) संवेग (३) निर्वेद (४) अनुकम्पा और (५) आस्था।

एक लक्षण होता है और एक लक्ष्य। जिसको जानना हो, पहचानना हो, वह लक्ष्य कहलाता है और जिस निमित्त से, जिस चिह्न से या जिस विशेषता से वह जाना-पहचाना जाय, उसे लक्षण कहते है। लक्षण दो प्रकार के है—(१) आत्मभूत और अनात्मभूत। जो लक्षण, लक्ष्य से पृथक् न हो सकता हो, लक्ष्य का ही गुण-धर्म हो, वह आत्मभूत लक्षण कहलाता है, जैसे अग्नि का लक्षण उष्णता। उष्णता, अग्नि का गुण है और वह अग्नि से अलग नहीं किया जा सकता, अतएव वह आत्मभूत लक्षण है। अनात्मभूत लक्षण, लक्ष्य से पृथक् हो सकता है। जैसे किसी ने कहा—जिसके सिर पर पगड़ी है, वह देवदत्त है। यहाँ देवदत्त लक्ष्य है और सिर पर पगड़ी लक्षण है, क्योंकि इस पहिचान से देवदत्त को पहचाना जाता है। मगर पगड़ी देवदत्त के सिर से अलग भी हो सकती है। वह अग्नि की उष्णता के समान अभिन्न नहीं है। अतएव इस प्रकार के लक्षण को अनात्मभूत लक्षण कहते है। जिन धर्मों से या जिन चिह्नो से सम्यक्त्व की पहचान होती है, वे समकित के लक्षण कहलाते है। ऐसे लक्षण पाँच हैं, जिनका नामोल्लेख अभी किया जा चुका है।

सम्यक्त्व का पहला लक्षण सम या शम है। समभाव होना, शान्ति होना, कषायो का उपशमन होना सम्यक्त्व का पहला लक्षण है। समकितधारी की गति भी सम होती है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि की गति मे सरलता होती है, वक्रता नहीं होती। जैसे

रेल या मोटर का चालक (ड्राइवर) होता है, तो यह उसके हाथ की बात है कि वह रेल या मोटर को धीमी रफ्तार से अथवा तेज रफ्तार से चलावे और सीधी चलावे या टेढी चलावे। कुशल चालक सीधी चाल से ही चलाता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि की जीवन सबंधी जितनी भी क्रियाएँ है, उन सब मे एक प्रकार का सीधापन होता है। उसमे ४२० नही होता, घुमाव-फिराव नही होता उसका समस्त व्यवहार सरलतापूर्ण होता है। वह 'यथावादी तथा कारी' होता है। जो कहता है, वह करता है। ऐसा नही कि कहने की दुनिया और हो तथा करने की दुनियां कुछ और हो। हाथी के दांत दिखाने के और तथा खाने के और हो।

ऐ भुजंग ! ऐ विषधर ! तू बांबी से निकल कर चाहे उलटा सीधा चल, वक्र चाल से चल, यह तेरी मर्जी है, किन्तु बाबी मे प्रवेश करना होगा तो सीधा ही प्रवेश करना होगा। इसी प्रकार जिसे अपने मे आना है, आत्मा मे रमण करना है और शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि करना है, उसे सीधा होना ही पड़ेगा। वहाँ वक्रता से काम नही चल सकता।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के अन्तःकरण मे एक ऐसी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उसका झुकाव मोक्ष की ओर रहता है, उसका वेग सही दिशा मे होता है। वह वैभव की गोद मे क्रीड़ा करता हुआ भी उससे अन्तस् मे अलिप्त रहता है। कहा भी है—

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तस से न्यारो रहें, ज्यों धाय खिलावे बाल ॥

धाय बालक को खिलाती-पिलाती है और माता के समान व्यवहार करती है, मगर भीतर ही भीतर जानती है कि यह

बालक मेरा नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव संसार के समस्त पदार्थों को अपने से भिन्न समझता है।

सम्यग्दृष्टि का हृदय पाषाण के समान कठोर नहीं होता, वरन् नवनीत की नाई अतिशय मृदुल होता है। जिसके सामने कोई प्राणी कष्ट से बिलबिला रहा है, व्यथा से आक्रन्दन कर रहा है, दर्द का मारा छटपटा रहा है और एक आदमी उसे देख रहा है और देख कर अपनी राह पर सीधा चला जा रहा है और फिर भी सम्यग्दृष्टि होने का दावा करता है, उस दुखिया का दुख दूर नहीं करता, तो शास्त्र कहता है कि उसका दावा झूठा है। वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, क्योंकि उसका दिल फौलाद का है। उसमें मनुष्यता का भी गुण नहीं है। समकिती होना तो दूर रहा, मनुष्यत्व का भी वहाँ टोटा है! सम्यग्दृष्टि के अन्तःकरण से करुणा का निर्मल एवं शीतल प्रवाह निरन्तर झरता रहता है और वह प्रवाह सन्तप्त जीवों के संताप को दूर करके उन्हें शान्ति पहुँचाता है। वह दुखी को देख कर स्वयं दुःख का अनुभव करने लगता है और जहाँ तक उसकी शक्ति है, दूसरों के दुःख का निवारण करने में कोई कोर-कसर नहीं रखता।

आत्मा अमूर्त्त है और सम्यक्त्व भी अमूर्त्त है। फिर कैसे उसका अस्तित्व जाना जाय? उसे जानने और पहचानने के लिए क्रियाएँ ही कसौटी का काम देती हैं। हृदय में दया होगी तो वह छिपी नहीं रहेगी। उसकी झलक चेहरे पर आये विना नहीं रहेगी और फिर क्रिया के रूप में भी अवश्य परिणत होगी। हृदय में हर्ष और विषाद की जो तरंग उठती हैं, क्या वे छिपी रहती हैं? नहीं—

वक्त्रं वक्ति हि मानसम्।

मनुष्य का चेहरा ही उसके मन की बात प्रकट कर देता है। खुशी और गम की झलक बाहर आये बिना नहीं रहती। चेहरे को देख कर जाना जा सकता है कि इसके दिल मे हर्ष है या विषाद है! इसी प्रकार अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है। अगर अनुकम्पा नही है तो समझ लीजिए कि वहाँ सम्यग्दर्शन भी नहीं है।

देहली से आगे बाग प्रदेश की बात है। हमारे दादागुरु श्री मयारामजी महाराज बांगर प्रान्त के अन्तरगत वडोदाग्राम के थे। तेरह जैन साधु एक ही गली के हुए जो जमींदार जाट जाति के थे। आप ओसवाल है और आपको जन्मतः जिनधर्म की प्राप्ति हुई है। मगर आप तप्पडघस हो, चिकने घड़े हो, ठठेरे के कबूतर के समान हो। कबूतर वहीं रहता है जहाँ रोज ठक्-ठक् की आवाज होती रहती है। वह सोचता है–यहाँ तो यह रोज-रोज का धंधा है, मै कहाँ जाऊँ? वह उस आवाज का अभ्यस्त हो जाता है और उसकी उपेक्षा करता है। इसी प्रकार आपकी भी इस धर्म के प्रति उपेक्षासी हो रही है। मगर जिनका मै जिक्र कर रहा हूँ, वे तेरह साधु आला दर्जे के त्यागी और तपस्वी थे। वे साधारण साधु नहीं थे।

एक दिन एक विशेष घटना घटित हो गई। उस गाँव के बाहर एक तालाब था। वहां एक लड़का अपनी भैस को पानी पिलाने गया। भैस को पानी बहुत प्रिय लगता है। आधुनिक प्राणीशास्त्रवेत्ताओ का कथन तो यह है कि किसी बहुत प्राचीन काल मे यह जलचर जीव था. जिसे मनुष्यो ने स्थलचर बना लिया है। जो भी हो, भैस पानी पीती-पीती तालाब मे चली गई। लड़के ने बहुत कोशिश की, पर भैस ने बाहर निकलने का नाम

भाइयो ! वह जाटो का गाँव था। उन लोगो के क्रोध का पार न रहा। उन्होने सोचा—ऐसी भयकर श्रद्धा वालो का गाँव मे से खोज ही मिटा दें ! ऐसे पापियो का दर्शन भी नही करना चाहिए। हाय हाय, आँखो देखते बालक मर गया और निर्दय ने बचाने की कोशिश तक नहीं की।' एक बड़ा बवंडर उठ खड़ा हुआ। भाग्य की बात है कि उस समय श्रीमयारामजी महाराज, जिनका जन्म उसी ग्राम का था, वहीं विराजमान थे। अगर वे न होते तो बड़ा ही अनर्थ हो जाता, न जाने कितनो का कत्ले-आम हो जाता। मयारामजी म० तीन भाई थे और तीनो ने दीक्षा अंगीकार कर ली थी। वे गृहस्थावस्था मे वहाँ के नंबरदार-जमीदार थे और ग्रामवासी उनके प्रति गहरी श्रद्धा रखते थे।

श्री मयारामजी महाराज के कानो तक यह बात पहुँची तो उन्होने गांव के मुखिया लोगो को समझाया। कहा—'जो होना था, हो चुका। उसने अच्छा नही किया—मनुष्यता का परिचय नही दिया। खेद है कि उसके सामने एक मनुष्य मर गया और वह खडा-खडा देखता रहा। मगर आप ऐसा करेंगे तो खूनखराबी होगी। आप दयावान् है तो आपको दया ही दिखलानी चाहिए। जो मर चुका है, वह अब किसी भी प्रकार वापिस नहीं आ सकता।' इस प्रकार समझा-बुझा कर जाटो को शान्त किया।

भद्र पुरुषो ! कहने का तात्पर्य यह है कि जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ होगा, वह इस प्रकार खड़ा-खड़ा देखता नहीं रहेगा। वह 'आ जा, तिरजा' कह कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझेगा। वह अपने प्राणो को जोखिम में डाल कर भी मरते की रक्षा करने का प्रयत्न करेगा। मगर ऐसे करुणा-हीन प्राणी भी सम्यक्त्वी होने का दावा करते है। उनका यह दावा वैसा ही है जैसे कोई वेश्या सती होने का करे।

तो सज्जनो ! अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है। जिसमें सम्यग्दर्शन होगा, उसके हृदय रूपी हृद से दया की विमल मन्दाकिनी फूटे बिना नहीं रहेगी।

सम्यक्त्व का पाँचवाँ लक्षण आस्था या आस्तिक्य है। दोनो का अभिप्राय एक है। स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, परलोक आदि पर श्रद्धा रखना आस्तिक्य है और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित तत्त्वो पर श्रद्धा रखना आस्था है। सम्यग्दृष्टि का एक पक्का निश्चय होता है—

तमेव सच्चं नीसकं, जं जिणेहिं पवेइयं।

—श्रीमदाचारांग सूत्र,

अर्थात्—वीतराग प्रभु ने जो भाव जिस रूप मे फर्माये हैं, वही सत्य हैं और उनमें लेश मात्र भी संशय के लिए अवकाश नहीं है।

किन्तु आज का बुद्धिवादी प्रत्येक वस्तु को अपनी ही अक्ल पर तोलना चाहता है। जैन सिद्धान्तों में इतनी दृढता और सबलता है कि वे तर्क या बुद्धि की चुनौती से घबराते नहीं। जैनाचार्य तो डंके की चोट कहते है कि—

युक्तिमद् वचन यस्स, तस्य कार्यः परिग्रहः।

जिसका वचन युक्तियुक्त हो, तर्कसंगत हो और बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरे, उसे ही तू स्वीकार कर और इस विषय में पक्षपात मत कर। किन्तु चाहे जो चाहे जिसकी परीक्षा तो नहीं कर सकता। कूंजड़े में रत्नों की परीक्षा करने की योग्यता नहीं है। उसे जौहरी की बात पर विश्वास करना पड़ेगा। सारांश यह

है कि परीक्षा करने से पहले परीक्षक को योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

बाल कब कहता है कि तुम हम को न तोलो। मगर उसे तोलने के लिए काँटा तो तुम्हारे पास होना चाहिए! लकड़ी तोलने के काँटे पर बाल को तोलोगे तो क्या पाओगे? इसी प्रकार हे अल्पज्ञ! तेरी तराजू मे कहाँ है वह शक्ति जो तू सर्वज्ञकथित सूक्ष्म भावों को तोलने की सोचता है? इसलिए तू जितना तोल सके, उतना ही तोल। सब वस्तुएँ तेरी बुद्धि-तुला पर तुलने लायक नहीं है। तेरे पास सूक्ष्म प्रज्ञा का वह बारीक काँटा नहीं है, जिस पर बाल का अग्रभाग तोला जा सके। अर्थात् सूक्ष्म तत्त्व की परीक्षा की जा सके। सूक्ष्म भावो को तोलने की योग्यता प्राप्त करने के लिए चिरकालीन साधना चाहिए जन्म–जन्मान्तर की तपस्या चाहिए और अन्तरात्मा मे जागृति चाहिए। तू तत्त्व को तोलना चाहता है तो तेरा अभिनन्दन है, पर पहले तुला हासिल कर और फिर तोल। बाल को हथेली पर तोल कर मत कह दे कि इसमे तो गुरुत्व ही नहीं है–वजन ही नही है।

सज्जनो! यदि छद्मस्थ केवली–कथित सब बातो को जान ले तो केवली और छद्मस्थ मे फर्क ही क्या है? यदि समुद्र का पानी तालाब मे समा जाय तो समुद्र को समुद्र कौन कहे? अल्पज्ञ का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान मे समाविष्ट हो सकता है, पर सम्पूर्ण ज्ञान अल्पज्ञान मे कैसे समाएगा? इस प्रकार श्रद्धा रक्खे विना मनुष्य के लिए और कोई चारा ही नहीं है। सम्यग्दृष्टि परीक्षागम्य भावो पर परीक्षा करके श्रद्धा रखता है और जो भाव परीक्षा के क्षेत्र से बाहर होते हैं, जिनकी वह परीक्षा नही कर सकता, उन पर सर्वज्ञ-वीतराग के आदेश-उपदेश से श्रद्धा रखता

है। यह सम्यक्त्व का आस्था या आस्तिक्य रूप पाँचवा लक्षण है, जो सम्यग्दृष्टि मे अवश्य होता है।

जहाँ सम्यक्त्व है, वहाँ यह पाँच लक्षण होते ही हैं। इसी प्रकार जहाँ भेदविज्ञान होगा, वहाँ सम्यक्त्व होगा। सम्यक्त्व के बिना सार-असार, आत्मा-अनात्मा आदि का पृथक्करण नहीं किया जा सकता और यदि किया जायगा तो वह समीचीन नहीं होगा—भ्रमपूर्ण होगा। तो सम्यक्त्व अमृत है और मिथ्यात्व गरल है। गरल अर्थात् जहर तो एक ही भव मे मारता है, मगर मिथ्यात्व अनन्त भवो मे मारता है। ग्यारह अगों और भिन्न दस पूर्वों के पाठी भी मिथ्यात्व के प्रभाव से एकेन्द्रिय में चले गये। सम्यक्त्व दिन है तो मिथ्यात्व अमावस्या की काली रात है। अथवा यो कह ले कि सम्यक्त्व जीवन है और मिथ्यात्व मरण है। संसार मे सम्यक्त्व से बढ़ कर कोई सम्पत्ति नहीं है। कहा भी है—

अप्राप्ते बोधिरत्ने तु, चक्रवर्त्त्यपि रङ्कवत्।
सम्प्राप्ते बोधिरत्ने तु, रङ्कोऽपि स्यात्ततोऽधिकः॥

अर्थात्—जिसे सम्यक्त्व रूपी रत्न प्राप्त नहीं हुआ वह चक्रवर्त्ती भी दरिद्र के समान है और सम्यक्त्वरत्न प्राप्त करने वाला दीन दरिद्र भी चक्रवर्त्ती से कहीं बढ़ कर है।

जो मनुष्य मिश्रपथी होता है, समझना चाहिए कि उसे भी भेदज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है। वह न इधर का रहता है, न उधर का रहता है। उनके विषय मे यही लोकोक्ति चरितार्थ होती है कि—न तो जार ही मिला, न भरतार ही मिला।' अथवा 'धोबी का कुत्ता घर का न घाट का।' अतएव विवेक-ज्ञान प्राप्त

करके सार और असार का पृथक्करण कर लेना चाहिए। सत्य-असत्य का निर्णय करके सत्य को ही शिरोधार्य करना चाहिए। जैसे सूपड़ा अनाज मे से सारे कूड़े-कचरे को फटक कर साफ कर देता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मे जो भेदज्ञान होता है. वह सत्य एवं सार को ग्रहण कर लेता है और असत्य एवं असार को फैंक देता है। यह सम्यग्दृष्टि की विशेषता है।

प्रश्न हो सकता है कि जिस सम्यक्त्व की इतनी अधिक महिमा बतलाई गई है, उसके प्राप्त हो जाने पर सम्यग्दृष्टि को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्दृष्टि के लिए सात स्थानो के ताले लग जाते है। प्रथम तो वह नरकगति मे नही जाता, उसे नरकायु का बंध ही नहीं होता। दूसरे, तिर्यंचगति मे भी नही जाता। उसे स्त्रीवेद का भी बंध नही होता, अर्थात् वह स्त्री शरीर से उत्पन्न नही होता। उसे घूंघट मे घुट-घुट कर जीवन व्यतीत नही करना पड़ता। और चांदनी मे भी दम घोटना नही पड़ता।

जोधपुर मे तो मैने नया ही नमूना देखा। वहाँ दो प्रकार के ओसवाल है—एक दरबारी, दूसरे बाजारी। सरकारी मुलाजिम, अहलकार वगैरह दरबारी कहलाते है। इन दरबारी लोगो के घर की ७० वर्ष की बुढ़िया भी होगी तो चाँदनी मे आएगी। चांदनी कहते है एक प्रकार के कपड़े के पर्दे को, उसे चांदनी कहना चाहिए या अधेरी, यह समझ मे नही आता। एक बड़े-से कपड़े में चार-पाँच बहिने घुस जाती है और पूरी तरह उसमे बद हो जाती हैं। ड्राइवर के रूप मे एक बुढ़िया उन्हे खीचती-खीचती ले आती है। उस समय का नजारा अजीब होता है। गिरती पड़ती ठोकरें खाती, वे स्थानक मे आती है। पता नहीं उन पर क्या

मगर ऐसा तभी हो सकता है जब एक दृष्टि और एक ही तरीका हो। जो मिश्रपंथी है, वे न हिन्दुस्तान मे है और न पाकिस्तान में है, किन्तु बीच मे ही लटक रहे है। उनकी दशा बहुत बुरी होती है। वे मुरादाबादी लोटे के समान होते है।

एक बार पशुओ और पक्षियो मे झगड़ा हो गया, संघर्ष छिड़ गया। पक्षी आकाश मे उड़ते है और पशु पृथ्वी पर चलते हैं। पक्षी कहते थे कि हम तुमसे ऊँचे है और पशुओ का कहना था कि हम तुम से बड़े है। पशुओ का दावा था कि हमारा शरीर तुमसे बहुत बड़ा है और हम अधिक शक्तिशाली भी है, अतः हम बड़े है। पक्षी कहते थे—हम विराट व्योम मे विचरण करने वाले हैं। तुम तो चार हाथ भी ऊंचा नहीं उठ सकते। आज इस ऊँच नीच के अभिनिवेश ने संसार मे संघर्षण उत्पन्न कर दिया है! लोग ऊँचा बनने के लिए तो प्रयत्न करते नहीं, उच्चता का दावा करते हैं, अभिमान करते है और ऊँचे कहलवाना चाहते है।

हाँ, तो लिखने वाला लिखता है कि दोनो की शक्ति की आजमाइश हुई। दोनो में लड़ाई छिड़ गई। अवसर ऐसा आया कि पक्षियो की हार होने लगी और पशुओ की विजय होने लगी। उस समय चमगादड़ पक्षी ने, जो पेड़ो पर उलटा लटकता है, विचार किया कि काम बिगड़ रहा है। हम पक्षियो की हार होने लगी है और सभी एक-एक करके, मैदान छोड़ कर भागे जा रहे हैं। अब क्या हाल होगा ? किन्तु चमगादड़ अवसरवादी था। वह पशुओ की विजय होती देख, पक्षियो के दल को छोड़ कर पशुओ के दल मे मिल गया। उसने कहा—मै तुम्हारे दल मे रहूंगा। पशु बोले–नहीं, हमारे अन्दर तुम्हारा काम नहीं। तुम्हारे साथ हमारा मेल नहीं बैठ सकता। तुम अपनी ही विरादरी मे रहो।

मगर चमगादड़ बड़ा चतुर था। वह पशुओं को चकमा देने लगा, बड़ी सफाई और चतुराई और वाक्पटुता से काम लेने लगा। वह बोला—अत्यन्त खेद की बात है कि आपने इस महत्त्वपूर्ण विषय मे गंभीर विचार नही किया। आप मुझे पक्षी कहते है, पर इस कथन का आधार क्या है ? कभी आपने सोचा भी है ?

पशु बोले—भाई, तुम उड़ते हो, इस कारण पक्षी हो।

चमगादड़ ने कहा—उडने के कारण मुझे पक्षी समझते हो, परन्तु क्या कभी पक्षी के मुंह में दाँत देखे है ? और कभी किसी पक्षी के बच्चे को दूध देते देखा है ? मेरे मुंह मे दाँत भी हैं और हम अपने बच्चे को दूध भी पिलाते है। अतएव आपको मानना चाहिए कि मै आपकी ही जाति का हूँ-पशु हूँ, पक्षी नहीं।

इस पर उस चमगादड़ ने पशुओ को निरुत्तर कर दिया। वह पक्षी मिट कर पशु हो गया। उसने सोचा—खैर रही कि मेरी बात ठीक ठिकाने बैठ गई। किन्तु पाप की जड़ अधिक समय तक हरी नहीं रह सकती। रेत की दीवार पर क्या कभी महल का निर्माण हो सकता है ? कागज की नैया पर सवार होकर क्या कोई महासागर पार कर सकता है ? ऐसा न कभी हुआ, न होगा।

भाइयो ! संसार परिवर्त्तनशील है। इसमे किसी का समय सदा एक-सा नही रहता। 'चक्रवत्परिवर्त्तन्ते, दुःखानि सुखानि च।' सुख और दु.ख गाड़ी के पहिये के समान घूमते ही रहते हैं। दोनो दलो मे पुनः संघर्ष शुरु हुआ और इस बार परिस्थिति बदल गई। पक्षियो ने चोंचें मार-मार कर पशुओ की नाक में दम कर दिया। पशुओ को बुरी तरह घायल कर दिया। पशु रणभूमि त्याग कर भागने लगे। पासा पलट गया।

चमगादड़ के सामने पुनः समस्या खडी हो गई। उसने सोचा—बड़ी मुश्किल से यहाँ पैठ जमाई थी, परन्तु देखता हूँ कि अब यहाँ भी मेरा काम नहीं चलेगा। सोचता था अनायास ही विजयी दल मे सम्मिलित होकर आराम की सांस लूंगा, परन्तु यहाँ तो बाजी ही बदल गई। ऐसा न हो कि मेरी भी कम्बख्ती आ जाय! इस प्रकार सोच कर वह पशुओ का दल त्याग कर पक्षियो के दल मे मिलने के लिए आया। उसने कहा—मै तो इधर ही रहूँगा। पक्षी कहने लगे-अरे गद्दार! जातिद्रोही! संघ-द्रोही! कृतघ्न! हमारी जाति मे तेरे जैसो के लिए कोई स्थान नहीं है। अपना भला चाहता है तो यहाँ से नौ दो ग्यारह हो जा।

सज्जनो! चमगादड़ के समान क्या स्वार्थी लोगो का भी कोई सिद्धान्त है? उनके लिए तो यही कहा जा सकता है—

जहाँ देखा तवा परात, वहीं गुजारी सारी रात।

यही उनके जीवन का आदर्श होता है। उनके अन्तःकरण मे देव, गुरु और धर्म के प्रति कोई मान-सन्मान नहीं होता। अभी वह कहता है—फलां मेरे गुरु है और अभी-अभी उन्हे भी धता बता देता है। उन्हे भी अंगूठा दिखलाने मे देरी नहीं लगाता। नया गुरु और नया धर्म बना लेता है। मगर याद रखिए, इस प्रकार के मनुष्यो को, चमगीदड़ो की तरह धत्ता ही मिलता है और आखिर उन्हे तिरस्कृत होना पड़ता है, लज्जित होना पड़ता है।

अब वह चमगादड़ लज्जा का मारा न तो पशुओ मे ही जा सकता है और न चमगादड़ो मे ही। उसे पहाड़ो की कन्दराओं

मे मुँह छिपा कर बैठना पड़ता है, जहाँ किसी की दृष्टि न पड सकती हो। वह दिन भर मुँह उलटा लटकाये पडा रहता है। बाहर निकले तो किस मुँह से ? वह मुँह दिखलाने लायक कहाँ है ? रात्रि मे जब सब पशु-पक्षी आराम करते है, तब चुपचाप निकल कर पेट का गुजरान करके वापिस लौट जाता है।

सज्जनो ! इस उदाहरण का आशय आप समझे ? न समझे हो तो मै क्या करूँ ? मेरी आवाज तो सारे लोकाकाश में व्याप्त हो गई। भाइयो ! जो चालबाज होते हैं, जो अवसरवादी होते है, वे न इधर के रहते है, न उधर के रहते हैं। उनकी दशा चमगीदड़ के समान होती है। वे न दीन के रहते है, न दुनिया के रहते है। उन्हे मुँह दिखलाना भी मुश्किल हो जाता है। अतएव आप लोग ढिलमिल नीति न रक्खे। इधर या उधर, किसी एक तरफ रहो। अवसरवादी मत बनो।

सज्जनो ! हमने श्रमणसघ बड़ी मिहनत करके बनाया है। सब पदवीधारको ने अपनी-अपनी आचार्य और उपाध्याय आदि पदवियो का, जो वर्षों से चली आ रही थीं, परित्याग कर दिया। यह सब किसलिए किया गया ? धर्म और शासन की उन्नति के लिए। अत्यन्त परिश्रम करके यह कड़ियां जोड़ी गई है। किन्तु जोड़ने वाले जोड़ते है और तोड़ने वाले तोडते है। सीने वाला दर्जी एक वालिश्त सीकर तैयार करता है और फाड़ने वाला क्षण भर में फाड डालता है। आज कड़ियो को जोड़ने वाले कम और तोडने वाले ज्यादा हैं। मगर याद रखना तोडने वालो ! तुम्हारी भी स[illegible]ार मे वही दशा होगी। उस पक्षी को तो कदाचित् कोई स्थान मिल जाय, मगर तुम्हें भूमण्डल पर कोई स्थान नहीं

मिलेगा। संघ मे फूट डालना, वैमनस्य बढ़ाना, विसंवाद उत्पन्न करना और संघ के उत्थान मे रोड़ा अटकाना बड़े से बड़ा पाप है और इससे बड़ा कोई दूसरा पाप नहीं हो सकता। जीवन की यह कड़ियाँ, यह लड़ियाँ बार-बार मिलने वाली नहीं है। अतएव आपकी एक ही नीति होनी चाहिए। श्रमणसघ को मजबूत बनाने के लिए प्रयत्न करना आपका कर्त्तव्य है। गांधीजी एक ही थे, किन्तु उन्होंने अपनी दृढ़ निष्ठा से ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े भारत मे हिला दी थी और फिर उखाड़ कर फैंक दी। तुम कितने ही होओ, मगर किसी प्रकार के प्रलोभन मे पड़कर मार्गच्युत न होना, फिसल न जाना। आपको अपने प्रिंसिपल से—ध्येय से, आदर्श से, तिल भर भी नहीं हटना चाहिए। अगर आपकी आस्था में दृढता है तो आपको डिगोने वाला कोई नहीं। भूल न जाना, आपको उन धर्मनिष्ठ श्रावको की परम्परा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है, जिन्हे देव और दानव भी अपने पथ से नही डिगा सके थे और जिनकी दृढ़ता के सामने देवो को भी हार माननी पड़ी थी। अतएव अपका विचार, आपकी नीति, सब मे एकरूपता होनी चाहिए।

सज्जनो ! यह दुरंगी चाल कौन चलता है ? जो चमगीदड़ के समान प्रवृत्ति वाले है, वही दोहरी नीति बरतते है। जो धर्म की और सघ की उन्नति चाहते है, वे सीधी चाल ही चलते है। जैनधर्म की नीति सदैव शुद्ध रही है. अतएव आपको जागरूक रहना चाहिए।

सज्जनो ! एक प्रासंगिक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है। आप बहुत आग्रह करके मुझे यहाँ लाए

हैं। मैंने आपकी प्रार्थना को प्रधानता दी है। किन्तु एक बात मेरी समझ मे नही आती। प्रवचन का समय आपके साथ विचार विमर्श करके, आपकी सुविधा का विचार रखते हुए निश्चित किया गया है। फिर भी अनेक बहिनें बीच मे ही उठकर चली जाती हैं। यह सभा का अपमान समझा जाता है। अगर बहिनें सिर्फ सामायिक करने आती हैं, तो वह तो घर पर भी हो सकती है। फिर वे सभा मे गड़बड़ क्यो मचाती है ? इससे पहले, दूसरी जगह, मेरे प्रवचन मे ऐसी बात नही हुई। मै चाहता हूँ कि सब लोग सामूहिक रूप मे, शान्ति के साथ, मनोयोग को स्थिर करके वीतराग की वाणी का रसास्वादन करें। इस प्रकार के व्यवहार को मैं उपेक्षाबुद्धि का सूचक समझता हूँ। वीतराग की वाणी का सार आपको सुनाया जाता हो और आपके गुरु उसे आपको सुना रहे हों और आप बीच मे ही उठ कर चल दें, यह मेरे लिए असहनीय है। इससे मेरी सभा का शृङ्गार बिगड़ जाता है। तुम्हारा स्थान खाली हो गया तो मेरा स्थान भी खाली हो गया। शान्त और जमे हुए वातावरण मे सुनाने की जो उमग होती है, वह बिखरती हुई सभा मे नही रह जाती। यह स्वाभाविक है। अतएव मेरी सूचना है कि आप इस गड़बड़ को नियंत्रित कीजिए, अन्यथा यह चीज आपके लिए विचारणीय हो जाएगी। बहिनो ! आज गुजर गई सो गुजर गई, किन्तु कल से ऐसी घटना अक्षम्य होगी। प्रभु की वाणी का अपमान मैं सहन नही करूँगा। भाइयो ! आप अपने-अपने घरो मे यह बात सबको समझा दें।

जिसे सभा संबंधी साधारण विवेक भी नहीं, उसे भेद-विज्ञान जैसी उच्च कोटि की वस्तु कैसे प्राप्त होगी ? आपको तो बहुत ऊँचा उठना है। भेदज्ञान प्राप्त करके सम्यक्त्व को धारण

करना है और उससे भी आगे बढते जाना है। जो महाभाग विवेक प्राप्त करके, भेदविज्ञान प्राप्त करके सम्यक्त्व रूपी रत्न को धारण और पालन करते है, वे संसार-समुद्र से पार होकर अनन्त सुख के भागी होते है।

ब्यावर
३-८-५६





दर्शनविशुद्धि की योजना

अरिहंत अरिहंत, अरिहंत अरिहंत ।
अरिहंत अरिहंत, अरिहंत भगवंत ॥

बहिनो और भाइयो !

साधना के क्षेत्र मे सबसे मुख्य जो साधन है, वह सम्यक्त्व है। इसी विषय पर विचार चल रहा है। कल मैंने बतलाया था कि समकित बाहर से आने वाली वस्तु नहीं है। वह आत्मा की निधि है, आत्मा की विभूति है और आत्मा का ही निज स्वभाव है। जैसे वस्त्र मे जो धवलता है, उज्ज्वलता है, वह कहीं बाहर से आई हुई वस्तु नहीं है। वस्त्र का निर्माण सफेद कपास से हुआ है। कपास सफेद था, रुई भी सफेद थी और सूत भी सफेद था। आशय यह कि उसका उपादान ही सफेद था, उसकी परम्परा सफेद ही चली आई है।

जिस वस्त्र की परम्परा श्वेत है, जिसमें मलीनता नहीं है और जिसमें अशुद्ध अवस्था नहीं है, उसमे जो ऊपरी मलीनता

दृष्टिगोचर होती है, कहाँ से आई ? वस्तुतः वह मलीनता स्वाभाविक नहीं, संसर्गजनित है। वह सोहबत का असर है, क्योंकि 'तुख्म तासीर, सोहबते असर'। वस्त्र का धूल आदि से संसर्ग हुआ और वह मलीन हो गया। इस संसर्ग-दोष के कारण वस्त्र की स्वाभाविक स्थिति बदल गई, छिप गई और एक बनावटी स्थिति पैदा हो गई। वह मलीन दिखाई देने लगा। फिर भी मूल रूप मे वस्त्र वही है, उसकी श्वेतता कही चली नहीं गई है, वरन् छिप गई है। वस्त्र का उपादान- द्रव्य श्वेत और धवल है और वह धवलता कही जाने वाली नही है। उसमे जो मलीनता दृष्टिगोचर होती है, वह वस्त्र की नहीं है, धूल या मल की है, जो ऊपरी है।

वस्त्र जब अपनी असली स्थिति मे होता है तो उसे पहनने की सब की इच्छा होती है, उसे सब अपनाना चाहते है। स्वच्छ वस्त्र सभी को प्रिय लगता है, सभी के लिए आदरणीय होता है। किन्तु जब वह धीमे-धीमे मलीन हो जाता है, सब उसे देखकर घृणा करते है। उसे अपनाने को किसी का जी नहीं चाहता है। पहनने वाला न चाहता हो, यही नहीं, मगर आसपास के पडौसी भी नही चाहते—उन्हे भी वह बुरा लगता है। मलीन वस्त्र वाले के पास कोई बैठना नहीं चाहता। अतएव यह आवश्यक नहीं कि वस्त्र मूल्यवान् हो, किन्तु साफ-सुथरे हो, कुरुचिजनक न हो, सुरुचिवर्धक हो, भले अल्पमूल्य के हो, मोटे हो, मगर घृणाजनक न हो, तो इसमे शिष्टता समझी जाती है, सभ्यता गिनी जाती है। मनुष्य को इस बात का खयाल होना चाहिए कि कम से कम सार्वजनिक अवसर या स्थान पर तो वह कुरुचिजनक गंदे, मैले या बदबूदार वस्त्र पहन कर न जाय। मगर हमारे यहाँ तो कितने ही ऐसे भाई है, जिनकी मुँहपत्ती भी इतनी मैली रहती है कि उस पर अनेक मक्खियाँ भिनभिनाती रहती

है। आश्चर्य की बात तो यह है कि लोग इसी मे जैनत्व की उत्कृष्टता समझ लेते है। मैं यह नही कहता कि मुँहपत्ती को चमकाने के लिए उस पर कौड़ियाँ घोटते रहे। नहीं, इस विलासवृत्ति की आवश्यकता नही है। आवश्यकता का तकाजा इतना ही है कि हमारी जो चपरास है, धर्म की निशानी है, उसे गदा और मैला न रक्खा जाय। यह सब व्यवहार और उपयोग रखने की चीज है। इसी प्रकार जिन वस्त्रो को धारण करके सामायिक की जाती है, वे भी मैले-कुचैले और अशुद्ध नही होने चाहिए। मल-मूत्र से भरे वस्त्र पहन कर 'अप्पाण वोसिरामि' करके सामायिक ले लेना उचित नही, क्योकि उस समय आप स्वाध्याय करते हैं, माला फेरते है और कुछ चिन्तन-मनन करते हैं। अतः सामायिक के वस्त्र भले ही मोटे हो, इसकी चिन्ता नहीं, पर उनकी शुद्धि का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

एक जगह मैंने लिखा देखा है कि यदि फटे वस्त्र धारण करके सामायिक-पौषध वगैरह धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं, तो उस धर्मक्रिया का लाभ नहीं मिलता। इस प्रकार लिखने वालों से मै पूछता हूँ कि क्या फटे कपड़ों के छिद्रों में से धर्म क्रिया का फल निकल जाता है? देखो, सामायिक-पौषध आदि धर्मक्रिया का फल कपड़ों मे नही रहता है, वह तो आत्मा मे रहता है—आत्मा के शुभ परिणामों मे रहता है। यह वस्त्र तो केवल व्यवहार साधने के लिए हैं। फलाफल का संबंध इनसे नहीं है। जो अमीर है, बहुमूल्य और सुन्दर वस्त्र पहन सकते हैं, क्या उन्हें धर्मक्रिया का फल अधिक होता है और फटे-पुराने कपड़े पहनने वालों की धर्मक्रिया निष्फल हो जाती है? इस प्रकार की कल्पना का कोई आधार नहीं है। धर्म क्रिया के फल की पोटली कपड़ों में नहीं बँधी होती। कपड़ों में छिद्र हो तो भले हों, आत्मा में छिद्र नहीं

होने चाहिए, जिससे करनी का फल निकल जाए। आत्मा के परि-णामो को शुद्ध रखना चाहिए।

कई लोग धर्मक्रिया के समय रेशमी वस्त्र धारण करते है और कहते है कि साधारण कपड़े नहीं होने चाहिए। ऐसे लोग रेशम के वस्त्रो को शुद्ध और पवित्र मानते है। मगर याद रखिए, रेशमी वस्त्र खूनी वस्त्र है, वह खून से सना हुआ है। वह ऊपर से भले ही चमचमाता हो मगर घोर हिसा का कारण है। २५००० रेशम के कीड़े मारने पर एक गज रेशम तैयार होता है। बहिनो! जरा ध्यान दो। तुम्हे रेशम बहुत पसंद है और उसे धारण करने में अपनी शान समझती हो। मैने अपनी आँखो से देखा है। जम्मू मे रेशम का कारखाना है। वहाँ कीड़े पाले जाते है और उन्हे शहतूत के पत्ते खिलाये जाते है। उन कीड़ो के मुख से एक प्रकार की लेस निकलती है, जिसे वह अपने शरीर पर लपेटता रहता है और जब उसे भार प्रतीत होने लगता है तो वह काट देता है। किन्तु कीड़े पालने वाले ऐसा समय आने से पहले ही उन कीड़ो को उबलते हुए पानी मे डाल देते है, जिससे कीड़े उबल कर मर जाते है। तत्पश्चात् वह रेशम निकाल लिया जाता है। अब आप विचार कीजिए कि अगर किसी बाई ने बीस गज रेशम पहन रक्खा है तो उसके लिए कितने कीड़ों की हत्या की गई होगी? अतएव यह महान् हिसात्मक वस्त्र है। धर्मी पुरुषो को ऐसे वस्त्र पहनना योग्य नहीं है।

रेशम भी दो प्रकार का होता है—असली और नकली। पूछा जा सकता है कि असली और नकली रेशम की पहचान क्या है? तो प्रथम तो दोनो के मूल्य मे ही अन्तर होता है। असली रेशम का मूल्य अधिक होता है और नकली का कम होता है

और फिर उसके ताने-बाने तथा चमक आदि मे भी अन्तर होता है।

हाँ, मै यह कह रहा था कि ऐसे रेशमी वस्त्रों को धारण करने से ही धर्म अधिक होना है, ऐसा नहीं है। इससे तो पाप ही अधिक होगा। सम्यग्दृष्टि की जो-जो भी क्रिया होती है, समझदारी की होती है। पहले वह सोचता है, फिर क्रिया करता है। तो वस्त्र चाहे मोटा हो और चाहे फटा ही क्यो न हो, किन्तु भावपूर्वक की गई करनी व्यर्थ नही जाती। जिसने फटे कपड़े वाले की धर्मक्रिया व्यर्थ होने का विधान बनाया, न जाने उसने क्या सोचा था या वह भंग खाकर बैठा था। कुछ भी हो, न तो इस विधान मे धार्मिक सचाई है और न व्यावहारिक उदारता ही है।

मूल बात यह थी कि वस्त्र अपने रूप मे शुद्ध है और वह सफेद तंतुओ से बना हुआ है, किन्तु ससर्गज दोष से वह मैला हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी आत्मभाव से शुद्ध है, किन्तु कर्म-मैल के लग जाने से अशुद्ध हो गया है। यहाँ यह बात नहीं भूल जाना चाहिए कि जिनशासन की समस्त कथनी अनेकान्तमय होती है, अर्थात नय की अपेक्षा से होती है। आत्मा को जो शुद्ध कहा गया है सो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। अगर हम एकान्त रूप से यह मान बैठे कि आत्मा पवित्र है, निर्मल है और उस पर मैल का असर होता ही नहीं है, तो फिर सामायिक करने, उपवास करने, साधु या श्रावक के व्रत अगीकार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। दवाओं के नित्य नये आविष्कार क्यो होते है, डाक्टर-वैद्य क्यो होते है, औषधालय क्यों खोले जाते है ? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि दुनिया मे बीमारियाँ है और इसीलिए डाक्टरो, वैद्यो एवं

औषधालयो की आवश्यकता पड़ी। अगर संसार मे रोग जैसी कोई वस्तु न होती तो इन सब साधनो की आवश्यकता ही न पड़ती। इसी प्रकार अगर आत्मा मे कोई विकार नहीं है, कोई दोष नहीं है, कोई मलीनता नही है, तो फिर साधना के मार्गों का विधान ही क्यों किया जाता ?

सज्जनो! अगर आत्मा को एकान्तरूपेण शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध, विशुद्ध मान लिया जाय तो यह मान्यता मिथ्यात्वमय होगी। भगवान् का मार्ग तो अनेकान्त का है। वह अनेक दृष्टियो को लेकर चलता है, एक दृष्टि को लेकर नहीं। इसका कारण यह है कि वस्तु मे अनेक धर्म होते है और उन सबको विभिन्न दृष्टिकोणो से समझे बिना सम्पूर्ण सत्य को समझा नही जा सकता। अतएव चलने वाले को चारो ओर से सावधान होकर चलना पड़ता है। तभी वह अपने जीवन की गाड़ी को ठीक ढग से, सही राह पर ले जा सकता है और अपनी मजिल तक पहुँच सकता है। यदि आँखे मीच कर, एकान्त को अंगीकार करके चला जायगा तो रास्ते मे ठोकर लगेगी और गाड़ी बीच मे ही चकनाचूर हो जायगी। एकान्तवाद सही पथ प्रदर्शित नहीं करता और गलत रास्ते पर ले जाकर छोड़ देता है। एकान्तवाद मे 'ही' की प्रधानता है, अनेकान्तवाद मे 'भी' की प्रधानता है। अनेकान्तवाद बतलाता है कि आत्मा रूपी है और अरूपी भी है। मूर्त्तिमान् भी है और अमूर्त्तिमान् भी है। शरीर की अपेक्षा से तथा आत्मा के साथ अनादिकाल से जो रूपी कार्मणद्रव्य एकमेक होकर बद्ध हो रहे है, उनकी अपेक्षा से आत्मा रूपी है। शरीर तथा इन्द्रियो से ही आत्मा की पहचान होती है। किन्तु अपने शुद्ध और स्वाभाविक स्वरूप से आत्मा अमूर्त्तिक भी है। उसमे वर्ण, रस,

गंध और स्पर्श, जो कि पुद्गल के धर्म हैं, नहीं पाये जाते। वह चित्-चमत्कारमय चैतन्यस्वरूप है।

इसी प्रकार आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है। आत्मा द्रव्य है और द्रव्य का कदापि उत्पाद और विनाश नहीं होता। अतएव आत्मा अमर है। किन्तु द्रव्य, पर्याय के विना नही रहता। किसी भी द्रव्य को लीजिए, वह किसी न किसी पर्याय के साथ ही आपको प्रतीत होगा, अकेला नहीं। और सब पर्याय अनित्य ही होते हैं, इस अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। कहा भी है—

द्रव्यं पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किंरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ?॥

पर्यायो रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय कहाॅ दिखते हैं ? कब दिखते है ? किसने देखे है ? किस रूप में देखे है ? और किस प्रमाण से देखे है ? अभिप्राय यह है कि वस्तु द्रव्य-पर्यायमय है। वस्तु का एक बाजू द्रव्य है और दूसरा बाजू पर्याय है। जब दोनो बाजुओ का, अर्थात् समग्र वस्तुस्वरूप का विचार किया जाता है तो वस्तु नित्य और अनित्य ही सिद्ध होती है। इस प्रकार आत्मा भी द्रव्य से अर्थात् आत्मभाव से अमर है पर्याय से जन्मने-मरने वाला भी है।

तो एकान्त दृष्टि से काम चलने वाला नहीं है। जिसे सत्य तत्त्व को जानना और समझना है, उसे अनेकान्त का आश्रय लेना ही पड़ेगा। इसीलिए मैंने कहा है कि वस्त्र स्वभाव मे शुद्ध है, किन्तु सगति-दोष से मैला हो जाता है। तब आप उसे पुनः शुद्ध बनाते है। किन्तु याद रखना वस्त्र साफ करने वाले ! सफाई

करते समय सावधानी की आवश्यकता है। अगर तुमने साबुन के बजाय कोयला ले लिया और साफ पानी के बदले गटर का मैला पानी ले लिया, तो वस्त्र साफ होने के स्थान पर और अधिक मैला हो जायगा। फिर तुम्हारे लिए वही लोकोक्ति चरितार्थ होगी कि—

विनायकं विकुर्वाणः कुर्याद्भास वानरं।

अर्थात्—चले थे गणेशजी बनाने और बन गया बन्दर!

तो अगर सावधानी न बरती तो लेने के देने पड़ जाएँगे। दूध मे मलाई खाते-खाते कहीं सफेद-सफेद रुई के लच्छे खा गये तो फिर जय हरि ही समझो! और हे वस्त्र साफ करने वालो! निश्चय समझो कि कोयले और गटर के गंदे पानी से वस्त्र साफ नही होगा। वस्त्र की स्वच्छता के लिए तो साबुन और स्वच्छ जल ही अनिवार्य है। मुझे ऐसी प्रवृत्ति की कला आपको सिखलाने की आवश्यकता नही है, क्योंकि प्रवृत्तिमार्ग के लिए, इस प्रकार के दैनिक जीवन व्यवहार को सिखाने के लिए कोई हाईस्कूल या कॉलेज खुले नही है। यह तो सहज ही सीख लिये जाते है। बच्चे गाली देना, शरारत करना अथवा बात कह कर मुकर जाना आदि बातें सीखने के लिए किसी स्कूल मे भर्त्ती नही होते। यह सब तो अनायास ही हो जाता है। यह सब बाते उदयभाव मे ही है। हाँ, जो अच्छी बाते है, जो उपशम भाव है, क्षयोपशम भाव है, क्षायिक भाव है, उसके लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है। पानी को ऊपर चढ़ाने के लिए मशीन की जरूरत पड़ती है, नीचे उतारने के लिए मशीन की क्या जरूरत है? नीचे आना तो उसका स्वभाव ही है। इसी प्रकार आत्मा के उत्थान के लिए

शिक्षण आवश्यक है, पतन के लिए न कोई शिक्षक चाहिए, न शिक्षा चाहिए और न ट्रेनिंग चाहिए। इसी प्रकार प्रवृत्तिमार्ग के लिए किसी गुरु की आवश्यकता नहीं है, निवृत्तिमार्ग के लिए गुरु की आवश्यकता होती है।

सज्जनो ! प्रवृत्ति और निवृत्ति को भी समझना चाहिए। यह दोनों शब्द परस्पर विरोधी प्रतीत होते है, मगर इनके विरोध को मिटा कर जब दोनो मे अविरोध स्थापित कर लिया जाता है, तभी वे हितकर होते है। वह निवृत्ति किस काम की है जिसके साथ सम्यक् प्रवृत्ति न जुड़ी हो ! बिना प्रवृत्ति के एकान्त निवृत्ति शून्य है, जड़ता है, निष्क्रियता है और वह किसी काम की नहीं है। यह तथ्य हमारे साधुवर्ग को ठीक तरह समझ लेना है। साधु को जहाँ निवृत्तिमार्ग पर चलना है, वहाँ प्रवृत्ति भी समादरणीय है। निवृत्ति का अर्थ छोड़ना है। तो जहाँ हमे कुछ छोड़ना है, वहाँ कुछ ग्रहण भी करना है। अर्थात् हमने कुछ छोड़ा है, त्याग किया है, परन्तु त्याग करके यो ही नहीं बैठ गये हैं, किन्तु छोड़ने के बाद कुछ करना भी स्वीकार किया है। पाप से निवृत्ति की है तो संवर-धर्म के लिए प्रवृत्ति करने का भी प्रण किया है। यदि निवृत्ति ही करके बैठ रहे तो व्यापार चलने वाला नहीं है। अगर किसी ने उपवास किया है, भोजन से निवृत्ति की है, तो उसे यों ही नहीं बैठ जाना है, किन्तु कुछ प्रवृत्ति भी करनी है। और ज्ञानचर्चा, स्वाध्याय, ध्यान, जप, चिन्तन, मनन आदि करना है। इस प्रकार एक ओर से हटना है तो दूसरी तरफ जुटना भी है। तभी वह निवृत्ति प्राणमय बनेगी, सजीव बनेगी, पूर्णता प्राप्त करेगी और कार्यकारिणी हो सकेगी। निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। शास्त्र में कहा है—

एगओ विरइ कुज्जा, एगओ य पवत्तणं ।
असंजमे निवत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥

—श्री उत्तराध्ययन, अ० ३१

अर्थात्—एक ओर से निवृत्ति करे और दूसरी ओर प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्त होकर संयम मे प्रवृत्ति करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि दुराचरण, निन्दा, चुगली, छल, कपट, झूठ आदि मानसिक, वाचिक और कायिक जितने भी असयम रूप कार्य है, उन्हे छोड़ना चाहिए और साथ ही जितने संयम रूप व्यापार हैं, उनमे प्रवृत्ति करनी चाहिए। आप जब सामायिक करते हैं तो यह पाठ बोलते हैं—करेमि भंते ! सामाइयं; सावज्ज जोगं पच्चक्खामि, जाव नियम पज्जुवासामि, दुविह तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।'

इस पाठ को आप जरा ध्यानपूर्वक विचार कीजिए। इस पाठ मे जहाँ 'करेमि' पद आया है, वहीं 'न करेमि' पद भी आया है। अर्थात् 'करता हूँ' यह भी बोला जाता है और 'नहीं करता हूँ' यह भी बोला जाता है। 'करता हूँ' यह प्रवृत्ति का सूचक है और 'नही करता हूँ' यह निवृत्ति का सूचक है। अर्थात् इस पाठ में संवर रूप सामायिक की प्रवृत्ति है तो साथ ही असंवर रूप सावद्ययोग की निवृत्ति है। इस प्रकार एक ही पाठ प्रवृत्ति और निवृत्ति-दोनो का विधान करता है।

इस पाठ की एक खूबी और देखिए। यह 'करेमि' से आरंभ हुआ है और 'वोसिरामि' पर समाप्त हुआ है। अर्थात् प्रवृत्ति से आरंभ होकर निवृत्ति पर समाप्त हुआ है। क्योकि

'करेमि' वह प्रवृत्तिसूचक और 'वोसिरामि' यह निवृत्तिसूचक है। अभिप्राय यह है कि हमारे आचारधर्म की पूर्णता प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मे है। दोनो मिल कर ही सम्यक्चारित्र का रूप धारण करते है। एक के विना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इसी कारण आचार्य कहते हैं—

असुहादो विणिविती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्त होना और शुभ में प्रवृत्त होना ही चारित्र समझना चाहिए।

तो सामायिक में आप सावद्य योगों की निवृत्ति करते हैं, किन्तु उस निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति भी करनी पड़ती है। यह नहीं कि सामायिक लेकर नींद लेने लगे! आपको दस मन के, दस वचन के और बारह काया के दोषो से वचना भी होगा।

एक वच्चे को सामायिक मे नींद आ गई। मैंने उससे कहा—'वच्चे! सामायिक में नींद लेना दोष है।' तव बच्चे ने कहा—'महाराज! नींद लेने से एक ही दोष लगा, जागने से तो न जाने कितने दोप लग सकते है।' तो ऐसे-ऐसे भी माँ के पूत मिलने हैं तर्कवाज! उसने निद्रा लेने में ही सामायिक की सफलता समझ ली। इसका कारण यह है कि प्रतिदिन सामायिक करने वाले भी प्राय. सामायिक के अन्तरतत्त्व को-असली स्वरूप को नहीं समझते। वे नहीं जानते कि केवल पाठ बोलकर बैठ जाना ही सामायिक नहीं है, वरन् विषमभावों का परित्याग करके-राग-द्वेषमयी परिणति को चित्तप्रदेश से वहिष्कृत करके, समभाव मे स्थिर होना, आत्मरमण करना, आत्मिक तल्लीनता होना ही असली सामायिक है।

मैं कहता हूँ—अपने मन को इधर-उधर जाने ही क्यों देते हो कि जिससे दोष लगे। जो बेकार होता है, वही इधर-उधर तप्पड़ घिसता फिरता है, किन्तु जिसका व्यापार चल रहा हो, जिसे व्यवसाय से ही फुर्सत न हो, वह इधर-उधर जाकर क्यों भटकने लगा ? उसे तो ऐसा अवसर नहीं आता। अतएव सामायिक मे मन को बेकार नहीं रहने देना चाहिए। धर्मध्यान करना चाहिए, धार्मिक प्रवृत्ति करनी चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए।

आज शास्त्रीय विषय समझाने मे हमे और समझने मे आपको जो कठिनाई महसूस होती है, उसका मुख्य कारण यही है कि आप स्वाध्याय नही करते। अगर आप स्वाध्याय करे तो हमारे मन मे पद-पद पर यह शंका ही न उठे कि इस शब्द का अर्थ इन लोगो की समझ मे आया होगा अथवा नहीं ? कॉलेज के छात्रों को किसी विषय का अध्ययन कराने के लिए प्रोफेसर केवल लेक्चर-भाषण का ही प्रयोग करते है और छात्रगण उसमे से अपने लिए आवश्यक पॉइंट्स् ले लेते हैं। उनके लिए विशेष रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि वे अपने विषय की पुस्तको का स्वय अध्ययन करते रहते हैं। मगर प्रथम कक्षा के विद्यार्थी के लिए लेक्चर उपयोगी नहीं होगा, क्योकि उस रूप मे समझने की योग्यता उसे प्राप्त नही है।

आप सब जानते हैं कि स्थानकवासी समाज आज साधुओ पर निर्भर है। मगर यह स्थिति सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती। परावलम्बन कभी सुखद नहीं होता। अतएव श्रावकवर्ग को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। धर्मरक्षा के लिए यह आवश्यक है। यह तभी हो सकता है और शास्त्रीय जटिल विषय तभी समझ मे आ सकते है, जब आप नियमित रूप से स्वाध्याय

किया करें। जो विद्यार्थी ग्रेज्यूएट हैं, उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, वे तथा दूसरे लोग एक जगह घंटे-आध घंटे के लिए इकट्ठे हों और वहाँ किसी धर्मग्रन्थ या शास्त्र का अवलोकन किया जाय, पठन-पाठन किया जाय, तत्त्वचर्चा की जाय, जिससे आपको गूढ शब्दों का और तत्त्वो का बोध प्राप्त होगा।

हाँ, इस ओर वयोवृद्ध स्वामीजी श्री पन्नालालजी म० ने अवश्य लक्ष्य दिया है और उनके सदुपदेश से स्वाध्याय-संघ की स्थापना हुई है, जो कई वर्षों से काम कर रहा है। उस स्वाध्याय-संघ के सदस्य, खाली क्षेत्रों में दूर-दूर तक जाते है और पर्युषण पर्व में भगवान् की वाणी सुनाते है। मेरा अभिप्राय यह है कि आप लोगो को साधुओ पर ही आश्रित नहीं रहना चाहिए और अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए। वह पुत्र सुपुत्र कैसा जो अपने पिता की कमाई पर ही निर्भर रहता हो ? ऐसे पुत्र को श्रेष्ठ पुत्र नहीं कहते हैं। श्रेष्ठ पुत्र वह है जो कमा कर आप भी खाता है और अपने पिता को भी खिलाता है।

ब्यावर का संघ बहुत बड़ा है। यहाँ स्थानकवासी जैनों की अच्छी संख्या है। ब्यावर किसी से पीछे नहीं है। ब्यावरवासी इतने समर्थ हैं कि जो चाहे, कर सकते है। मगर इतना सब होने पर भी यहाँ कोई भी स्थायी आदर्श कार्य संघ की ओर से नहीं हो रहा है। यद्यपि तेरहपंथी भाई सख्या में थोड़े है, फिर भी उनकी 'जैन सांखला लाइब्रेरी' चल रही है और वह नगर की सबसे विशाल लाइब्रेरी मानी जाती है। मन्दिरमार्गी भाइयों का शान्ति जैन स्कूल चल रहा है। मगर अफसोस है कि स्थानकवासियों की, इन दोनों की अपेक्षा बहुत बड़ी संख्या होने पर भी, शान के अनुरूप कोई चीज

नहीं है। यहाँ गुरुकुल अवश्य था, मगर वह भी बंद हो गया। सज्जनो! जहाँ आप अपने परिवार के लिए कुछ करते है, वहीं समाज के लिए भी कुछ करना चाहिए। अपना-अपना पोषण तो सब करते है, मगर समाज के लिए भी कुछ भोग देना चाहिए।

मै समझता हूँ, ब्यावर वालो! आपने चौमासा करा लिया है और मुझे पूरा भी कर देना है। इसी बीच मै आपको नरम-गरम बाते भी कहूँगा। अगर मुझे आपके कुसंस्कार निकालने है, दुर्बलता दूर करनी है और कुरूढ़ियो का त्याग कराना है, तो मुझे मान-अपमान सहन करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। जब मैने जोधपुर मे बहिनो से बच्चो पर नियंत्रण रखने के लिए कहा तो उनमे से कोई-कोई कहने लगीं—महाराज साहब क्या बच्चे नही थे? क्या इतने ही बड़े आ गये? बहिनो, बात तो ठीक है। मै भी कभी बच्चा था और ऊपर से पार्सल हो कर नही आया हूँ। कहने का आशय यह कि मै ऐसी-ऐसी आवाजो को सुनने के लिए भी तैयार था। जिसे काम करना है। उसे आक्रमण से डरना नहीं चाहिए। काम करने वालो की निन्दा भी होती है, बुराई भी होती है, प्रशंसा भी होती है। जो 'समो निंदा-पसंसासु' होकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहता है, वही कुछ कर सकता है।

डाक्टर किसी मरीज़ का ऑपरेशन करता है। कोई मरीज वेदना सहन न कर सकने के कारण डाक्टर को गालियाँ भी देता है। किन्तु डाक्टर इस बात की परवाह करने लगे तो मरीज को अच्छा नही कर सकता। डाक्टर जानता है कि मरीज का घाव भर जायगा और वह स्वस्थ हो जायगा, तब मेरे गुण गाएगा। इसी प्रकार कुरूढ़ियो को निकालने के लिए बड़ा भोग देना पड़ता

है और मान-अपमान सहन करना पड़ता है। ऐसा किये बिना समाज मे घर बना कर जमी हुई कुरूढियाँ नष्ट होने वाली नहीं हैं। मै समझता हूँ, यह चौमासा परीक्षा का है, किन्तु मैं अपने विचार निर्भयता के साथ आपके सामने रखता जाऊँगा और और आपको चेतावनी देता जाऊँगा। यदि आप लोग योग्य होगे तो मेरे विचारो को ग्रहण कर लेगे, अन्यथा मेरी भावना तो आपको देने की और आपका जीवन शुद्ध बनाने की है ही। मेरा विचार यही रहेगा।

रूसउ वा परो मा वा, विस वा परियत्तउ ।
भासियव्वा हिया भासा, सपक्खगुणकारिया ॥

अर्थात्—दूसरा चाहे रुष्ट हो अथवा तुष्ट हो, यहाँ तक कि विषवमन भी क्यो न करे, फिर भी अपने पक्ष को गुण करने वाले हितकर वचन कहने चाहिए।

हाँ, तो मैं आपको—श्रीसंघ को—स्वपक्ष मानता हूँ, अतः आपके कल्याण के लिए मुझे कहना ही है। मै यह कह रहा था कि आपका क्षेत्र प्रतिष्ठित है और यहाँ उपाचार्यजी महाराज भी चौमासा कर चुके हैं। आगे भी होते रहेगे। अतः मैं चाहता हूँ कि यहाँ कोई न कोई श्रेष्ठ कार्य तो होना ही चाहिए। यह श्रावण का महीना है और जहाँ देखो वहीं हरियाली नजर आने लगी है। इस बाह्य हरियाली के साथ, इन महीनों मे लोगो के हृदयो मे भी हरियाली छा जाती है। तो यह हरियाली, हरियाली ही बनी रहे, इस उद्देश्य से कोई न कोई ठोस कार्य होना चाहिए, जिससे कभी शुष्कता नजर न आवे।

भाइयो! कोई कल्याणकारी ठोस कार्य कर लोगे तो चौमासा कराने का लाभ उठा सकोगे। ब्यावर शक्ति का केन्द्रस्थल है। यहाँ कार्य होने से आसपास के क्षेत्रो को भी शक्ति प्राप्त हो सकेगी, क्योकि कुए में पानी होगा तो लोटे मे भी आएगा। यहाँ पानी की तो कमी नहीं है, मगर वह अपने आपके लिए ही है, दूसरो के लिए नहीं। यहाँ तन है, धन है, कण है, किन्तु थोड़ी मन की कमी है। भाइयो! आपको इस सबंध मे विचार करना चाहिए। मैं अपनी मर्यादा मे रह कर ही कह सकता हूँ। जो मेरे करने योग्य है, वह मै कर सकता हूँ और जो आपके करने का है वह आपको ही करना पड़ेगा। मगर ऐसा कोई विशेष कार्य होना अवश्य चाहिए जिससे पास-पड़ौस वालो को भी कुछ लाभ हो सके।

आज स्थानकवासी समाज मे ज्ञान की बहुत कमी है। ज्ञान की इस कमी के कारण हमे दूसरो के आक्षेप सहन करने पड़ते हैं। ज्ञान की कमी अनेक प्रकार के अनर्थों को और सक्लेशो को उत्पन्न करती है। अतएव आप ऐसा यत्न करे कि अज्ञान दूर हो और समाज मे ज्ञान का प्रकाश फैले। कितने आश्चर्य और खेद की बात है कि इतने बड़े स्थानकवासी समाज मे, कहीं एक भी ऐसी सस्था नही रह गई है, जहाँ बालको और नवयुवकों को शास्त्रीय शिक्षा दी जाती हो! कई बार मै सोचता हूँ कि आखिर इस समाज की गाड़ी कैसे चल सकेगी? जिन पावन और महान् सिद्धान्तो के आधार पर आप अपना और समग्र विश्व का जीवन घड़ना चाहते है, उनकी जानकारी भी आपको न हो, क्या यह असीम विस्मय की बात नहीं है?

भाइयो! जैसे व्यापार के लिए आप नाना प्रकार की योजनाएँ सोचते और कार्यान्वित करते है, उसी प्रकार समाज की

जब एक कड़ी भी दरवाजे को पूरी तरह बन्द कर देती है, तब वहाँ तो 'नौकड़ी' है। अगर मनुष्य की जीभ बंद कर दे तो आश्चर्य ही क्या है ?

हाँ, तो उस नौकर के हृदय मे यह मर्मवेधी वचन सुनकर मार्मिक व्यथा हुई। घाव ही घाव हो गये। कहा है—

तीर लगो तरकश लगो, लगो मरम का घाव।
बचन किसी को मत लगो, इसका नही उपाव॥

सज्जनो ! इन वचनो ने कइयों के प्राण ले लिये, कइयों ने वचनो के कारण राजपाट छोड कर जंगल की शरण ली और जिन्होंने सद्गुरु के वचनो को हृदय मे धारण किया, उनका बेड़ा पार हो गया। कहा भी है—

एक वचन जो सतगुरु केरो,
जो बैठे दिलड़ा रे मांय रे प्राणी।
नीच गति मे ते नही जावे,
एम कहे जिनराय रे प्राणी॥
साधुजी ने वदणा नित-नित कीजे॥प्राणी०॥

सज्जनो ! जिस बूंद का पानी मोती है, वह पानी मन, दो मन नहीं होता, सेर दो सेर भी नहीं होता। वह एक बूंद ही होता है। मगर उसी हालत में होता है जब सीप का मुँह खुला हो, स्वाति नक्षत्र का चन्द्रमा के साथ योग हो, और बादलों में उदारता हो। इस प्रकार के सब संयोग जब मिलते हैं तभी एक बूंद मोती बनता है। इसी प्रकार सद्गुरु का एक भी वचन जो हृदय मे बैठ जाय तो जीवन का मार्ग ही बदल जाय और बेड़ा

पार हो जाय। गुरु के वचन को हृदय में धारण करके अनन्त जीव भव सागर से तिरे है, तिर रहे है और तिरेंगे। अतएव मनुष्य को अपना जीवन ठीक रखना चाहिए। उसे समझना चाहिए कि जैसे मुझे सन्मान प्रिय और अपमान अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरे को होता है।

सज्जनो! जैसा व्यवहार तुम दूसरो के प्रति करोगे, वैसा ही दूसरों से पाओगे। यह तो गुम्बज की आवाज है, कुए की आवाज है। भाई कहोगे तो भाई सुनोगे और साला कहोगे तो साला सुनोगे। काच के महल मे शान्त होकर खड़े होओगे तो शान्ति का ही प्रतिबिम्ब देखोगे और भ्रकुटि चढाओगे तो जवाब मे वही आकृति तैयार है। मुक्का या घूसा उठाओगे तो तुम्हे भी वही मिलेगा। विनीत भाव से हाथ जोडोगे तो वैसी ही मूर्ति तुम्हे दिखेगी। अतएव चाहे आपका नौकर ही क्यो न हो आपको उसका अपमान करने का अधिकार नहीं है। आप उससे उचित ड्यूटी ले सकते है, मगर उसे गाली नहीं दे सकते। वह भी प्राणी है, वह भी मनुष्य है, चेतन है। मगर मनुष्य ने नौकर को अपना क्रीत दास समझ लिया है। अपने हाथ की कठपुतली बना लिया है। यह स्थिति अब बदल रही है और प्रतिक्रिया हो रही है। जो श्रावक है, भगवान् महावीर के पुजारी है, उन्हे हर्गिज ऐसा नहीं समझना चाहिए।

अच्छा तो जब अफसर ने अपने नौकर को गाली दी तो उसने सामना नहीं किया, वरन् होशियारी से काम लिया। उसने सोचा—इन्हे कुछ उत्तर तो देना ही चाहिए। अतएव जब अफसर ने उसे सुअर का बच्चा कहा तो उसने उत्तर दिया—हुजूर! आप ही मेरे माई-बाप है। मै आपका ही बच्चा हूं!

इतना-सा कहकर वह चला गया। नौकर का संक्षिप्त किन्तु भावपूर्ण उत्तर सुनकर हाकिम को लज्जित होना पड़ा। भाइयो! वह हाकिम सुअर क्यों बना? इसी कारण कि उसने दूसरे को सुअर बनाया! सत्य है—मान से मान और अपमान से अपमान मिलता है।

बहिनो! आपको खास तौर से यह बात स्मरण रखनी चाहिए। आप दूसरो को तो क्या, अपने बच्चो को भी गाली न दे। यह सब बातें समझने के लिए आपको ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, शिक्षित होना चाहिए। इस आशय से आज मैं आपके लिए एक चीज पेश कर रहा हूं। आप सुनकर बैठ गई और मैं सुना कर चल दिया तो नतीजा क्या निकला? वह दवा क्या अर्थ रखती है कि जब तक डाक्टर बैठा है, तब तक दौरा न हो और बाद मे दौरा होने लगे। असली औषध तो वही है जो डाक्टर की मौजूदगी मे भी असर करे और बाद मे तो कभी दौरा आने ही न दे। अतएव मै आप बहिनो के भाई, पति, श्वसुर इत्यादि को कह रहा हूँ कि इन बहिनो के लिए कोई ऐसी संस्था खोलनी चाहिए जहाँ इन्हे ठीक-ठीक शिक्षण मिल सके। इनमें सभ्य और शिष्ट ढंग से उठने-बैठने आदि का सभा—समाज का अनुशासन आ सके। और यह सब कुछ ज्ञान के बिना आने वाला नही है। इसलिए ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

स्थानकवासी भाइयो को एक सूचना और कर देना आवश्यक है। वह यह कि जो बाइयाँ स्थानक मे उपवास, बेला, तेला, अठाई आदि का प्रत्याख्यान करने आती है, वे सचित्त वस्तु लेकर आती हैं, जो स्थानकवासी परम्परा से विरुद्ध है।

शास्त्र मे पॉच अभिगम बतलाये है, जिनमे सचित्त वस्तु लाने का भी निषेध किया गया है। बहिने तपस्या करे, यह परमोत्कृष्ट कार्य है, किन्तु स्थानकवासी होकर दूसरो का अनुचित अनुकरण करना कहॉ तक उचित है? अतएव भविष्य के लिए मै आपको चेतावनी दे देना चाहता हूँ कि आप यहॉ नारियल अथवा जल का कलश आदि सचित्त वस्तु लेकर न आया करे। ऐसी परिस्थिति में हमे आपसे बोलने या आपको मागलिक सुनाने का भी अधिकार नही है। आप अपनी संस्कृति को विकृत न कीजिए। आपको अपने धर्म का और गुरु का खयाल होना चाहिए। यह हमारी संस्कृति से विरुद्ध है।

तपस्या के संबंध मे एक बात और कह देना चाहता हूँ। तपस्या करना उत्तम है, किन्तु तपस्या के दोषो से बचना भी अत्यावश्यक है। तपस्या का सब से बड़ा दोष मिथ्यात्व है। जिसका परिहार करना आवश्यक है। अतएव अठाई वगैरह तपस्या करके इधर-उधर भागते फिरना मिथ्यात्व को पोषण देता है। अपनी विशिष्टता को भूल कर पड़ौसी को ऑख मीच कर नकल करने से सस्कार बिगड़ते जाते है। पहले भी अनेको साधुओ और साध्वियो का यहॉ आगमन हुआ है, पर उन्होने आपको अपनी श्रद्धा का पाठ क्यो नही पढ़ाया? आपको चाहे कुछ कटुकता प्रतीत हो या आप नाराज़ भी क्यो न हो जाएँ, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है। जब हमने अपने घर वालो को ही छोड़ दिया और नाराज कर दिया तो आपसे हमे क्या भय है? सत्य कहना ही होगा। हमारे अनुयायियो की सस्कृति विगड़ती जाय और हम देखते रहे, कम से कम मुझे तो यह असहनीय है। मै महासतियो से कहना चाहता हूं कि आप इन देवियो को सॅभालें और मैं इन देवताओ को सभालता हूं। इन चार महीनो मे इन्हे बना

दो और कुछ सिखला दो। यों ही रोटियाँ खाकर और कपड़े फाड़ कर नहीं चला जाना है।

बहिनो! तपस्या करना खीर के समान है तो मिथ्यात्व का पोषण करना उसमें नमक डालने के समान है। खीर बनाकर उसमे बूरे के बदले नमक डाल देने से सारी खीर खराब हो जाती है। अतएव आपको तपस्या करके, देव गुरु और धर्म के सिवाय किसी की आराधना नहीं करनी चाहिए और न किसी के आगे मत्था टेकना चाहिए। आज इतना कह देना ही पर्याप्त है। बुद्धिमान् बेटे को इशारा ही काफी है। अगर आप इतने से न समझे तो मैं इस प्रकार की तपस्या को प्रदर्शन ही समझूँगा।

जैसे मैं आपके आचार के संबन्ध मे पथ प्रदर्शन कर रहा हूँ, वैसे ही आप भी हमे हमारी संस्कृति के संबध में कह सकते हैं। अगर आप कोई विपरीत आचरण देखें तो किसी प्रकार का संकोच न करके और मुझे कहे। आप हमे खड़ा कर सकते हैं और हम आपको खड़ा कर सकते हैं। हमारी श्रद्धा, लोहे की ऐसी मजबूत दीवार की तरह बन जाय जो टूट न सके।

समय हो रहा है, किन्तु एक चीज आपके सामने और रख देता हूँ। आजकल वनमहोत्सव अर्थात् वृक्षारोपण का समय है। इस समय वृक्ष लगाने से जल्दी पनपते हैं और उनकी जड़ें मजबूत हो जाती है। सरकार वनयोजना चला रही है। मैं चाहता हूँ कि चौमासे मे आप भी एक संस्था रूपी पौधा लगा दे, जिसे यथोचित पानी मिलता रहे और वही पौधा एक दिन वृक्ष का रूप धारण कर ले। उस वृक्ष की शीतल छाया मे आपके नगर के लोग और आसपास वाले भी विश्राम ले सकें।

काठियावाड़ मे मैने देखा है कि वहाँ प्रायः छोटे-बड़े ग्रामो मे ऐसी धार्मिक संस्थाएँ हैं, जहाँ बच्चो को और महिला समाज को धार्मिक संस्कार मिलते है। किन्तु आपका काम तो बिलकुल प्रासुक है। 'फासु चावल फासु दाल, फासु पोसाल, फासु धर्म करे ओसवाल।' मगर भाइयो! त्याग किये विना संघ का हित नहीं हो सकता। अतएव कोई ऐसी योजना होनी चाहिए जिससे सम्यक्त्व की पुष्टि हो।

मैने वतलाया था कि मिथ्यात्व से आत्मा मे मलीनता आ गई है। आत्मा अपने स्वभाव से स्वच्छ है, उसमे कोई दोष या कलंक नही है। किन्तु उस शुद्ध स्वरूप को प्रकाश मे लाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो ऐसा प्रयत्न करेंगे, वे इस लोक और परलोक में सुख के भागी बनेंगे।

ब्यावर
४-८-५६



दर्शनविशुद्धि की योजना

[२]

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिद प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपोः,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः, हे वीर ! भद्र दिश ॥

उपस्थित सुखाभिलाषी आत्माओ !

व्याख्यान का जो विषय प्रधान रूप से चल रहा है, उसका केन्द्रीय भाव सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व आत्मा का गुण है और समस्त साधनाओं का मूल है। जिसने मूल साधन को अपना लिया, वही उत्तर साधनाओं को अपना सकता है। सम्यक्त्व के अभाव में कोई भी अन्य साधना कार्यकारिणी नहीं होती।

यह बात बतलाई जा चुकी है कि सम्यक्त्व ऊपर से लादी जाने वाली वस्तु नहीं है। वह आत्मा की ही विभूति है, निधि है।

हमे जो कुछ करना है, वह सिर्फ इतना ही कि मोहनीय कर्म के उदय से उस पर जो आवरण छा गया है, उसका निवारण कर दे। वस्त्र पर ऊपर से चढा मैल हटा दिया जाय तो वह तो स्वच्छ ही है। स्वच्छता ऊपर से नही लानी है। स्वच्छता वस्त्र का स्वभाव है। इसी प्रकार सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, धर्म है, स्वरूप है, स्वभाव है। सम्यक्त्व आत्मा है और आत्मा सम्यक्त्व है। दोनो मे गुण-गुणी का अभेद-सम्बन्ध है। सम्यक्त्व, आत्मा से भिन्न रहने वाला पदार्थ नही और आत्मा, सम्यक्त्व से भिन्न नहीं। सम्यक्त्व का यदि कोई स्थान है, जगह है या उसके लिए कोई सुन्दर भवन है तो वह आत्मा ही है, कोई पहाड़ की चोटी, कदरा अथवा अन्य धाम नही है।

सज्जनो! जरा गंभीर विचार करो। मै बहुत ऊँची बात कह गया हूँ। आज कोई मनुष्य सम्यक्त्व की उपलब्धि के लिए पहाडो मे, कोई नदी-नालो मे और कोई यत्र-तत्र स्थानो मे भटकते फिरते है, किन्तु समकित का स्थान तो स्वात्मा ही है। आत्मा मे ही सम्यक्त्व का आविर्भाव हो सकता है। एक रग दिखने मे एक ही रंग दिखाई देता है, मगर चित्रकार तूलिका लेकर उसी रग मे से अनेक प्रकार के चित्र चित्रित कर देता है। वह कहीं बाहर से नहीं आया है, किन्तु रंग की ही परिणति विशेष है। उसे चित्र रूप मे परिणत करने के लिए तूलिका आदि बाह्य साधनो की आवश्यकता थी। वह साधन मिले और चित्र तैयार हो गया। इसी प्रकार सम्यक्त्व आत्मा मे ही शक्ति रूप से विद्यमान् है। वह आत्मभूत है, अनात्मभूत नहीं। निमित्त मिलने पर अंदर से ही उसकी प्रकटता हो जाती है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि जब सम्यक्त्व आत्मा का गुण है और गुण नित्य होता है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि सम्यक्त्व हमेशा ही आत्मा मे रहता है। अगर यह सत्य है तो फिर मिथ्यात्व का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है ? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि सम्यक्त्व आत्मा का गुण है, तथापि मिथ्यात्व ने उस पर शासन-आधिपत्य जमा रक्खा है। अतएव सम्यक्त्व से जो कार्य होता है, वह नहीं हो पाता। इसलिए ज्ञानी जन कहते हैं कि जब मिथ्यात्व का कब्जा हट जाता है, मिथ्यात्व दूर हो जाता है, तो आत्मा मे सम्यक्त्व रूपी सूर्य चमकने लगता है और सूझबूझ काम करने लगती है। अतएव समकित पालने के लिए इधर-उधर कही भी भटकने की आवश्यकता नहीं है।

एक उदाहरण और लीजिए। शरीर मे शक्ति भरी हुई है, पर उस शक्ति को, शरीर मे होने वाले रोगों ने, व्याधियो ने दवा रक्खा है, जिससे वह शक्ति प्रकट नहीं हो रही है। मगर जब दवा रूप निमित्त से रोगो का नाश हो जाता है, तो वही शक्ति धीरे-धीरे चमकने लगती है। इस प्रकार रोगो को निकाल देने के लिए ही दवा की आवश्यकता है। रोग निकले कि फिर शक्ति के प्रकट होने में कोई वाधा नहीं रहती सब अग-प्रत्यंग यथावत् क्रिया करने लगते हैं। इसी प्रकार आत्म की विभूति सम्यक्त्व को मिथ्यात्व रूपी रोग ने दवा रक्खा है। उसे केवल प्रकट करने भर की जरूरत है। जैसे दियासलाई मे अग्नि को प्रचंड करनेकी शक्ति है, मगर विना साधनों के वह प्रकट नहीं होती है। यदि उस दियासलाई को माचिस पर लगे मसाले से रगड़ा जाय तो सघर्षण होते ही अग्नि प्रज्वलित हो उठेगी। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—इसी प्रकार समकित को चमकाने के लिए मिथ्यात्व के साथ संघर्ष करने की आवश्यकता है।

मिथ्यात्व जीव का सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु है। उसने आत्मा पर साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है। उसे निकालने के लिए एटम बम और परमाणुबम जैसे मजबूत समकित रूपी शस्त्रों की आवश्यकता है। मिथ्यात्व को पराजित करने के लिए ज्ञानी पुरुषो ने दस प्रकार के अमोघ साधन बतलाये है।

तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते है और तत्त्व नौ है। उनमे सबसे पहले जीव तत्त्व बतलाया गया है। वही सब तत्त्वों का आधार है। जो जीवभाव से जीवित था, जीवभाव से जीवित है और जीवभाव से जीवित रहेगा, वह जीव है। जीव, जीवरूप से कभी मर नहीं सकता। हॉ शरीर एव इन्द्रियों से वह मरता है, गति मे परिवर्त्तन होता है, किन्तु उसके जीवत्व में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। जीव वह तत्त्व है जिसमे चेतना है, प्राण है, भान है और जो सुख–दुःख का अनुभव करता है। इसी के अन्तर्गत शास्त्र मे बतलाया है कि कोई जीव ऐसा भी है जो सांसारिक सुख–दुःख को जानता तो है, किन्तु भोगता नहीं है। यानी उस जीव को सुख–दुःख का भान होता है, वह स्वरूप को ज्ञान से जानता–पहचानता है और उसकी दृष्टि से सुख-दुःख की दुनिया गुजर रही है, किन्तु वह उसके भोग से अतीत होता है, अर्थात् वह संसार का सुख और दुःख भोगता नहीं है। ऐसे जीव अशरीर, अनिन्द्रिय सिद्ध परमात्मा हैं। कोई–कोई जीव ऐसे भी हैं जो सुख-दुःख का संवेदन तो करते है, किन्तु अपनी संवेदना को व्यक्त नहीं कर सकते। अर्थात् वे स्पष्ट ज्ञान से हीन हैं। ऐसे जीव असंज्ञी है। इनमे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कोई–कोई पंचेन्द्रिय जीव भी शामिल है। इनमे भी एकेन्द्रिय जीव की संवेदनशक्ति अत्यन्त ही अव्यक्त है। पर यह न समझ लीजिए कि एकेन्द्रिय जीव को सुख-दुःख का अनुभव

प्रकट नहीं कर सकते, फिर भी उन्हे वेदना होती है। उस वेदना को केवलज्ञानी ही जानते है।

सज्जनो ! यह केवलज्ञानियो की अनुभव की हुई बाते है। एकेन्द्रिय जीवो को वेदना होती है, इसी कारण साधु-साध्वी उनका संघट्टा नही करते। जैसे किसी ८० वर्ष के जर्जरितदेह वृद्ध पुरुष को ३२ वर्ष का सबल तरुण घूंसा मारे तो उसे घोर वेदना होती है, इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवो को स्पर्श करने मात्र से वेदना होती है। अथवा जैसे अबोध बालक को कष्ट होता है, क्योकि वह भी पंचेन्द्रिय है, किन्तु वह कष्ट को भाषा द्वारा प्रकट नही कर सकता। वह नहीं जानता कि उसे बुखार चढ़ा है या कौन-सा दर्द है ? उसे सिर्फ दर्द महसूस होता है और वह रोता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव दुःख से दुखित, पीड़ित और व्यथित तो होते है, किन्तु बोल कर अपने दुःख को प्रकट नहीं कर सकते। वे मूक है, उनकी चार इन्द्रियाँ छिन गई है। अतएव ज्ञानियो ने कहा है कि उनके प्रति भी दया करो। यही कारण है कि साधु छह काय की हिंसा से बचते हैं। श्रावको के लिए भी कहा है कि जो चलते-फिरते निरपराध त्रस प्राणी है, उनकी हिंसा का तो सर्वथा त्याग कर दो, उन्हे मत सताओ, और जो पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय के स्थावर प्राणी है, उनकी हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो कम से कम निरर्थक हिंसा तो मत करो।

श्रावक गृहस्थ है। उसे पशु भी रखने पड़ते है, भोजन भी बनाना पडता है और दूसरे भी आरभ-समारंभ करने पड़ते है। आप लिलोतरी का त्याग कर सकते है किन्तु क्या भैस को भी लिलोतरी का त्याग करा दोगे ? क्या भैस को भी चौविहार उप-

वास करा दोगे ? ऐसी स्थिति मे श्रावक परिपूर्ण त्याग नहीं कर सकता तो मर्यादा तो अवश्य ही करनी चाहिए। ऐसा करने से भी बहुत-से जीवो को राहत मिल जाएगी। इस प्रकार अपने जीवन को मर्यादित और नियंत्रित करने से त्रस और स्थावर जीवो को आराम मिलता है।

स्मरण रहे कि नियंत्रण मे रहना सुख रूप है और नियंत्रण से बाहर चला जाना दुखरूप है। नदियाँ भी जब तक नियंत्रण मे है जब तक सब को लाभ पहुॅचाती है, खेती को और पशुओ-पक्षियो को भी उन से लाभ होता है, और जब वे नियंत्रण से बाहर चली जाती हैं, बाढमय हो जाती हैं तो प्रलयकाल के दृश्य उपस्थित हो जाते है। चारो ओर हाहाकार और चीत्कार का करुण क्रन्दन सुनाई देता है। अन्न की, धन की, जन की और सभी तरह की हानि होती है। इसी प्रकार अग्नि को लीजिए। अग्नि मानवजीवन की अनिवार्य आवश्यकता बनी हुई है। उसकी सहायता से मनुष्य भोजन वगैरह बनाता-पकाता है। किन्तु जब तक आग नियत्रण में रहती है, तभी तक वह लाभप्रद होती है। जब वह अनियंत्रित होती है, दावानल के रूप मे प्रचण्ड बन जाती है, तो यत्र-तत्र फैल कर, अपनी लपलपाती हुई विकराल ज्वालाओ से सबको भस्म कर देती है। ऐंजिन चालक के नियत्रण मे रहता है तो आप भी सुरक्षित रहता है और दूसरो की यात्रा भी सकुशल सम्पन्न होती है और वही ऐंजिन जब नियंत्रण से बाहर होता है तो स्वयं क्षतिग्रस्त होता है, दूसरे डिब्बों को भी चूर-चूर कर देता है और मुसाफिरो को भी महान् मुसीबत में डाल देता है। लेने के देने पड़ जाते है। अतएव जीवन मे मर्यादा होना आवश्यक है। मर्यादाहीन जीवन अपने निज के लिए और

संसार के लिए भी घातक है। अतएव जो सुख और शान्ति से परिपूर्ण जीवन यापन करना चाहते हैं, उन्हे नियन्त्रणमय जीवन बनाना चाहिए और अपने आपको वश मे करना चाहिए। अ-मर्यादा से वह 'जीवन' अर्थात् पानी न मालूम किधर चला जायगा और न जाने किस-किसको पीड़ा एवं व्यथा पहुँचायगा। अतएव श्रावक का जीवन मर्यादित, प्रामाणिक आदर्श और मंजा हुआ होता है!

कहते अफसोस होता है कि कहाँ तो आनन्द आदि श्रावको का जीवन और कहाँ आज के गृहस्थो का जीवन! आज के श्रावको के जीवन मे प्रायः कोई मर्यादा नही, कोई संयम नही। मोहान्ध और बेभान होकर लोग मर्यादाविहीन जीवन यापन कर रहे है। ऐसी स्थिति मे जीवन का विकास होना असभव है।

हाँ, मै यह कह रहा था कि शास्त्रकारो ने श्रावको को एकेन्द्रिय जीवो की मर्यादा करने के लिए फर्माया है। कितने ही लोगो का कहना है कि धर्म के नाम पर प्राणियो के प्राण लूटने मे हिंसा नही होती। कोई कहते हैं कि एकेन्द्रिय जीवो को दुःख नहीं होता, क्योकि उनके मन नही है और ऐसा करने से हमको धर्म अधिक हो जाता है। किन्तु भाइयो! संसार अज्ञानी है। ज्ञानी तो यही कहते है कि एकेन्द्रिय को भी दुःख होता है। बेचारे एकेन्द्रिय जीव दुर्बल है, असमर्थ है, निरुपाय है, अपनी वेदना का प्रतीकार नही कर सकते, अपनी रक्षा का उपाय नही कर सकते। कौन उनकी सुधि ले! इसलिए उनकी रक्षा करने वाले भी थोड़े ही हैं। वे तीन लोक के नाथ, जगत् के बन्धु तीर्थंकर भगवान् ही है, जिन्होने उनके प्रति भी दया की भावना व्यक्त की है! इन जीवो

की अपेक्षा ही कहा गया था कि कोई-कोई जीव दुःख तो भोगते है, मगर उसे व्यक्त नहीं कर सकते और स्पष्ट रूप से जान भी नहीं सकते।

तीसरे नंबर मे वह जीव है, जो सुख-दुख को भोगते भी हैं और जानते भी है। ऐसे जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय है, उन्हे मन प्राप्त है और सुख-दु ख के विषय मे सोचने की शक्ति मिली है। जब उनका पेट दुखता है, आँखो मे दर्द होता है या अन्य प्रकार की वेदना होती तो वे उसे जानते भी है और भोगते भी है।

चौथे नंबर मे उन जड़ पदार्थों की गणना होती है, जो न सुख-दुख को जानते है और न अनुभव ही करते हैं। यह पाट और चौकी आदि इसी कोटि मे है। इस प्रकार जो चेतनावान् है और जिसमे संवेदनशक्ति है, वही जीव है और जो इससे विपरीत स्वरूप वाला है, वह अजीव है। यह मूल-भूत दो तत्त्व है और शेष आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य-पाप तत्त्व इन्हीं के विस्तार है।

आप सोचते होगे कि प्रसंग सम्यक्त्व का चल रहा है और यह नौ तत्त्वो की चर्चा कहाँ से घुस आई ? मगर दोनो मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन नौ तत्त्वो के स्वरूप को तीर्थङ्कर भगवान् के कथनानुसार जानना, समझना, इन पर पूर्ण रूप से श्रद्धा, रुचि और प्रतीति लाना, अन्तरग भाव से, नि.शक होकर इन्हे स्वीकार करना ही सम्यक्त्व है। जो इन तत्त्वो के अर्थ और परमार्थ को जानकर समीचीन रूप से श्रद्धा करता है, उसीको सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। तोता 'राधेश्याम--राधेश्याम' और 'सीता-राम सीता-राम' रटता रहता है, परन्तु इससे काम नहीं

चलता। इसी प्रकार विना समझे-बूझे नौ तत्त्वो के कोरे रटन मात्र से काम चलने वाला नहीं। सरल एव शुद्ध भाव से समझने और यथार्थ बोध प्राप्त करने से ही हित हो सकता है। अतएव सम्यक्त्व को समझने के लिए नौ तत्त्वो को समझना परमावश्यक है, क्योकि सम्यक्त्व रूपी सुखद सौध इन नौ तत्त्वो रूपी स्तंभो पर ही खडा हुआ है। सम्यक्त्व का आधार नौ तत्त्व ही है।

आप जानते है कि कारण के विना कार्य नही हो सकता। आटा नहीं होगा तो रोटी किसकी बनेगी ? सूत न होगा तो वस्त्र काहे से वनेगा ? इसी प्रकार सम्यक् श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है, परन्तु नौ तत्त्व न होगे तो श्रद्धा किस पर की जायगी ? एक विद्यार्थी स्नातक (ग्रेज्यूएट) बनना चाहता है, किन्तु जब पाठयक्रम नियत नहीं है, पुस्तके तैयार नहीं है और अध्यापक मौजूद नहीं है, तो कैसे वह विद्वान् बन सकेगा ? विद्वान् बनने और स्नातक होने के लिए इन सब साधनों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि बनने के लिए नौ तत्त्वों की जानकारी एव श्रद्धा भी अत्यन्त आवश्यक है।

जिसे गोली चलाने की ट्रेनिंग लेनी है, साधना करनी है, उसे पहले निशाना लगाने का स्थान निश्चित करना पड़ेगा। स्थान नियत किये विना, लक्ष्य को स्थिर किये विना वह निशाना लगाएगा कहाँ ? निशाना लगाने वाला अपनी दृष्टि को चारो ओर से हटा कर एक स्थान पर केन्द्रित कर लेता है। तभी उसका प्रयास सफल होता है। इसी प्रकार अगर आप अपने लक्ष्य को साधना चाहते है तो आपको भी अपनी दृष्टि की और मनोवृत्ति की चंचलता त्यागनी होगी और नौ तत्त्वो पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। आपका मन, आपकी इन्द्रियाँ और आपका

शरीर-सब सिमट कर उसी निशाने की ओर लग जाने चाहिए। ऐसा न करोगे तो निशाना लगाना चाहते हो कहो और लग जाएगा कहीं अन्यत्र। कर्म रूपी शत्रुओ का संहार करने के लिए यह लक्ष्य-साधना अनिवार्य है।

जैसे ईंट, चूना पत्थर आदि के अभाव मे हवेली नहीं बन सकती, उसी प्रकार नौ तत्त्वो पर श्रद्धा, रुचि और प्रतीति किये बिना सम्यक्त्व नही हो सकता।

अब आपके समक्ष मै अपने विषय का स्थूल रूप रखता हूँ। श्रद्धा विश्वास, प्रतीति या यकीन सम्यक्त्व कहलाता है। उसको प्राप्त करने के लिए आपकी दृष्टि केन्द्रित होनी चाहिए। दृष्टि इधर--उधर नाचती रहेगी तो निशाना ठीक नही बैठेगा। चंचल दृष्टि वाला कभी सही निशाना नही लगा सकता। कभी इधर भागे, कभी उधर भागे, कभी वहाँ मत्था टेका और कभी अन्यत्र सिर रगड़ा, यह दृष्टि की चंचलता है। दृष्टि की यह चच-लता जब तक विद्यमान है, तब तक आप आन्तरिक रिपुओं पर-कर्मशत्रुओ पर सही रूप मे गोली नही दाग सकते। मिथ्यात्व का संहार नही कर सकते। आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते। अतएव आपके सामने एक निश्चित लक्ष्य होना चाहिए।

शास्त्रो मे सम्यक्त्व के विषय मे सूत्र है, इशारा मात्र है, उसका विस्तार विश्लेषण और उसको ठीक रूप मे व्यक्त करना वक्ता पर निर्भर है। जब तक उस विषय की पुष्टि मे हेतु और दृष्टान्त न दिये जाएँ तब तक श्रोताओ के सामने स्पष्ट चित्र अंकित नही होता। यदि मै मूल रूप मे सूत्र ही सूत्र सुनाये जाऊँ तो इन थोड़े--से वृद्ध पुरुषो को, रिजर्व फंड को--छोड़कर संभवत. सारी सभा खाली हो जाय!

तो सम्यक्त्व का आधार नौ तत्त्व कारण हैं और सम्यक्त्व कार्य है। यदि नौ तत्त्व न होते तो सम्यक्त्व जैसी कोई चीज ही दुनिया से न होती। दोनो एक दूसरे के सहयोगी है। दोनो परस्पर सम्बद्ध है। इन नौ तत्त्वो मे भाव से, हृदय से, ऊपर के दिल से नहीं किन्तु अतरंग से और आत्मा से श्रद्धा करना सम्यक्त्व है। अर्थात् नौ तत्त्वो को ठीक रूप से जान लेना, समझ लेना, पहचान लेना और रमा लेना ही सम्यक्त्व कहलाता है।

प्रश्न हो सकता है कि इन तत्त्वो का ज्ञाता होने से क्या लाभ है? ज्ञानी जनो का कहना है कि जो मनुष्य इन तत्त्वो का ज्ञाता नहीं है, जिसे इनकी भलीभाँति जानकारी नहीं है, वहाँ समकित फलफूल नहीं सकता। अतएव मुमुक्षु जनो को चाहिए कि वे इन तत्त्वो को जाने और इन पर श्रद्धा करे।

कल मैंने एक प्रेरणात्मक सुझाव दिया था। मैंने कहा था कि सम्यक्त्व की सुदृढ़ता के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधनो की आवश्यकता है। कल मैंने भी इस सबंध में कहा था और भाई चिमनसिंहजी लोढा ने भी प्रकाश डाला था, किन्तु मुझे नहीं मालूम कि वे शब्द यो ही वायुमंडल मे विलीन हो गये अथवा आपके चित्त मे भी रहे और आपने कुछ विचार किया या नहीं? मुझे इस सबंध मे कोई सूचना नही मिली। मै चाहता हूँ कि आज रविवार का दिन है, अवकाश का समय है, अतः इसे ताश-चौपड खेलने मे न व्यतीत करके उस योजना को कार्यान्वित करने के विचार मे व्यतीत करें। गरम-गरम लोहे से चाहो सो बना सकते हो, ठंडा हो जाने पर कुछ नहीं बन सकता। किसी भी कार्य मे ढिलाई देने से मामला बिगड़ जाता है।

सज्जनो ! आज जो कुरीतियाँ और कुरूढ़ियाँ आपके भीतर घर बनाये हुए है और जिनके पीछे कोई तत्त्व नही है, उन्हे अगर दूर करना है तो ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञान के प्रखर प्रकाश मे कुरूढ़ियो का अंधकार नही ठहर सकता। ज्ञान के अभाव मे हमारे रोज-रोज सिरपच्ची करने से भी कोई विशेष लाभ होने वाला नही है। अतएव मै चाहता हूँ कि आप शीघ्र से शीघ्र ऐसी संस्था की स्थापना करे जिससे अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त किया जा सके। मै तो चातुर्मास के पश्चात् चला जाऊँगा, मगर यदि कोई स्थायी चीज हो गई तो उससे आपको बल मिलता रहेगा। आपके बालको को लौकिक ज्ञान तो मिलता है, पर धर्म के अभाव मे उनके बी० ए० या एम० ए० हो जाने पर भी कोई सच्चा लाभ नही। इसमे बेचारे बच्चो का क्या अपराध है ? जब उनके माँ-बाप को ही ज्ञान नहीं है और वे उनके लिए कोई साधन भी नही जुटाते हैं, तो बच्चे कहाँ से ज्ञानवान् बने ? कैसे उन्हे प्रेरणा मिले ? ऐसी पुस्तके तैयार कराने की अतीव आवश्यकता है, जिनसे बच्चो के हृदय मे प्रगाढ़ और सच्ची धर्मश्रद्धा पैदा हो। धर्म के प्रति बालको की अश्रद्धा का जब मूल कारण समझ मे आ जायगा तो इलाज होने में देर नहीं लगेगी। चतुर चिकित्सक पहले रोग के कारणो की जाँच करता है। फिर चिकित्सा करने मे कठिनाई नही होती।

धर्म बन्धुओ ! अश्रद्धा रूपी रोग का मूल कारण अज्ञान है। अतएव उस अज्ञान का निवारण करने के लिए आपको साधन जुटाना है—संस्था का निर्माण करना है। सुना है, आपके यहाँ करीब १४-१५ ग्रेज्युएट जैन अध्यापक है। वे मास्टर हैं और दूसरे शब्दो मे कहूँ तो गुरु है। किन्तु सज्जनो ! मै कहता हूँ कि अध्यापक के पास जो होगा, वही वह सिखा सकेगा। जिस विषय

से वह स्वयं अनभिज्ञ है, उसे, वह कैसे सिखा सकेगा ? रंगरेज के पात्र मे जैसा रग होगा, वही कपड़े पर चढ़ेगा। वे अध्यापक उन कॉलेजों मे पढ़े है, जहाँ धर्म का ज्ञान नहीं दिया जाता। अतएव वे स्वय अनभिज्ञ है। अगर आप उनके लिए सुलभ साधन जुटा सकें तो वे शीघ्र ही धार्मिक बोध प्राप्त कर सकते है और फिर आपके बालको के लिए भी सहायक हो सकते है। बच्चो को सही मार्ग प्रदर्शित करने के लिए अध्यापक को भी जानकार होना चाहिए।

कई लोग कहते है कि धर्म करना साधुओ का काम है। आप इसी के लिए है। मगर भाई, मेरे धर्म करने से तेरी आत्मा का उद्धार नही होगा। हम धर्म करेंगे तो हमे फल मिलेगा और तू धर्म करेगा तो तुझे फल मिलेगा। जैनधर्म यह कभी नहीं कहता कि हरिश्चन्द्र अपने सत्य के प्रभाव से अयोध्या की अपनी समस्त प्रजा को स्वर्ग मे ले गए। जैनधर्म तो स्पष्ट शब्दो मे कहता है—

स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा,
फल तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वय कृत कर्म निरर्थक तदा ॥

आत्मा ने शुभ अथवा अशुभ जैसे भी कर्म पहले उपार्जन किये है, उनका ही वह अच्छा-बुरा फल प्राप्त करता है। यह नहीं हो सकता कि एक की करनी से कोई दूसरा सुखी या दुखी हो जाय। ऐसा होने लगे तो अपने किये कर्म निष्फल ही हो जाएँगे।

तो जैनधर्म के अनुसार जो करेगा वही भोगेगा। उसका फल दूसरे को नहीं मिल सकता। अतएव आप लोगों को इस भ्रम में नहीं रह जाना चाहिए कि मैं धर्म करता हूँ तो आपका उससे कल्याण हो जाएगा। जो बीमार है उसे ही दवाई खानी पड़ेगी और जो दवाई खाएगा, उसीको लाभ पहुँचेगा। आपके औषध-सेवन करने से आपका बालक नीरोग नहीं हो जाएगा। इसी प्रकार हमारे धर्म करने से आपको स्वर्ग-मोक्ष नहीं मिल जाएगा।

कई लोग कहते हैं—धर्म करना साधु का धर्म है, हम तो गृहस्थ हैं। इसका उत्तर देने के लिए मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। आप ईमानदारी से उसका उत्तर दीजिए। मैं पूछता हूँ—क्यों साहब, सुख की आवश्यकता आपको है या नहीं? अगर सुख की आवश्यकता है तो आपको धर्म भी करना पड़ेगा। जैसे साधुओं को सुख की अभिलाषा है तो वे धर्म का आचरण करते हैं। उसी प्रकार आप सुखाभिलाषियों को भी धर्म का आचरण करना चाहिए। हाँ, आप सुख न चाहते हो तो बात दूसरी! मगर संसार में कौन ऐसा प्राणी है जिसे सुख की अभिलाषा न हो? जैसे भूख-प्यास मिटाने के लिए भोजन-पानी सभी को चाहिए, वैसे ही दुःख दूर करने के लिए धर्म की आराधना भी सब को करना चाहिए। जैसे भोजन-पानी से ही भूख-प्यास मिटती है, उसी प्रकार धर्म से ही दुःख दूर होते है। अतः सभी को, चाहे वह साधु हो या गृहस्थ, धर्म का आचरण करना ही चाहिए।

कई भाई कहते हैं—पहले राष्ट्रोत्थान कर लें, समाजोद्धार कर लें और जात्युत्थान कर ले, पीछे धर्म कर लेंगे। वाह! क्या

ही सुन्दर बात कही है ! मै कहता हूँ, धर्म के अभाव मे समाजोत्थान के स्वप्न देखना, राष्ट्र या जाति के उद्धार की कल्पना करना, आकाश में फूल खिलाने की कल्पना के समान है। दैवयोग से आकाश मे फूल भले नजर आने लगे किन्तु धर्म के विना देश, समाज या जाति का उत्थान कदापि नहीं हो सकता। शरीर को बल मिलता है तो खुराक से ही मिलता है। खुराक के विना शरीर के किसी भी अग को बल नहीं मिल सकता। कदाचित् भोजन के अभाव मे शरीर को शक्ति मिले तो धर्म के अभाव में देश, समाज और जाति का उद्धार हो।

देखना चाहिए कि देश, समाज और जाति का आप उद्धार करना चाहते है, परन्तु उनका पतन हुआ क्यो ? अगर अधर्म ने इन्हे गिराया है तो उत्थान धर्म से ही होगा। अतएव यह स्पष्ट है कि क्या राष्ट्रोत्थान और क्या समाजोत्थान, सभी का मूल धर्म है और धर्म के विना किसी का भी उद्धार नहीं हो सकता। धर्म वह आधारभूत और व्यापक तत्त्व है जो व्यापार, राजनीति, समाजसुधार आदि सभी क्षेत्रो मे काम आता है। दुकानदारो को भी धर्म की आवश्यकता है, व्यापारियो को भी धर्म की आवश्यकता है, नौकरी-पेशा लोगो को भी धर्म की आवश्यकता है और शासनकर्त्ताओ को भी धर्म की आवश्यकता है। सभी जगह सत्य और प्रामाणिकता चाहिए। यही तो धर्म है। सरकारी कर्मचारियो मे धर्म चाहिए, अर्थात् वे रिश्वत न ले, हरामखोरी न करे और प्रामाणिकता के साथ अपना कर्त्तव्य पालन करे। बच्चे पाठशाला मे पढ़ने जाते है तो वहाँ भी धर्म की आवश्यकता है। उनमे ब्रह्मचर्य नहीं, सदाचार नहीं, विनीतभाव नहीं और धर्म नहीं तो उन्हे उस क्षेत्र मे सफलता नहीं मिल सकती। धर्म के बिना कोई भी जाति और समाज जीवित नहीं

रह सकता। जिस जाति, समाज या राष्ट्र मे से जितने-जितने अंशो मे धर्म निकलता जाता है, उतने-उतने अशो मे वह शिथिल होता जाता है। शरीर मे से प्राण निकल जाते है, तो वह शरीर चाहे योगी का हो या भोगी का हो, अभिशापरूप हो जाता है, जला देने योग्य हो जाता है। इसी प्रकार धर्महीन समाज निष्प्राण है, निर्जीव है, किसी काम का नहीं।

सज्जनो! धर्म का प्रांगण बड़ा विशाल है, विराट है, किन्तु आज धर्म के ठेकेदारो ने उस विश्वव्यापी धर्म को अपने मन्दिरो मे, मस्जिदो मे, गिरजाघरो मे और स्थानकों में ही बन्द कर दिया है। याद रखना, धर्म इन स्थानो मे बन्द होने वाला नहीं है। यह तो धर्म की प्रेरणा देने वाले स्थल हो सकते है, किन्तु धर्म की व्यापकता तो असीम है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। आकाश की भाँति अनन्त है। आपको धर्म के स्वरूप को सही रूप मे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार का कोई जड़ या चेतन पदार्थ नहीं जिसमे आकाश की व्यापकता न हो।

धर्म का विषय बड़ा जटिल है। विचारणीय भी है। यह जितना जटिल है, उतना ही हितावह भी है। आज लोग कहते है कि धर्म करना बहुत कठिन है, किन्तु मैं कहूँगा कि धर्म करना उतना कठिन नहीं, जितना धर्म समझना कठिन है। जिन्होंने धर्म को समझ लिया, धर्म के मर्म को पकड़ लिया और धर्म की आत्मा को पहचान लिया, उन्हे धर्म का आचरण करना कुछ भी मुश्किल नहीं रहा। जो धर्म को परख लेते हैं, पहचान लेते है और समझ लेते है, वे धर्म के लिए धन तो क्या, प्राण भी निछावर कर देते है। जिन बड़भागियो ने धर्म के महत्त्व को समझा था, उन्होने हँसते-हँसते धर्म के लिए अपने प्राणों

को विसर्जित कर दिया था। क्या ऐसे महान् पुरुषो और महिलाओ के नाम आपको याद दिलाने की आवश्यकता है ? यदुवश का आभूषण, श्रीकृष्ण का अनुज, अत्यन्त सुकुमार गजसुकुमाल क्या हमारे लिए विस्मरण कर देने योग्य है ? उसकी उम्र ही क्या थी ? किस काल मे उसकी अवस्था गुजर रही थी ? मगर पूर्ण समभाव मे स्थित रह कर उसने प्राण दे दिये और नाक पर एक भी सल न आने दिया ! क्या हिम्मत थी सोमल मे ? गजसुकुमार* मुनि आँख उठाकर उसकी तरफ देख लेते तो उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते ! मगर नहीं उन्होने स्वय प्राण दे दिये, मगर हत्यारे सोमल को भयभीत नही होने दिया।

धर्म की वेदी पर बलिदान होने वाले थे खंधक मुनि ! उनका आख्यान आप जानते है और उनके पॉच सौ शिष्यो की पावनी कथा भी आप जानते होगे जो राजा के द्वारा घानी मे साठो की तरह पिलवा दिये गये थे। उन्होने मुँह से उफ् भी नहीं कियां। सज्जनो ! इन सब महात्माओ ने धर्म की अन्तरात्मा को टटोला था। उनकी आत्मा धर्म की दुनिया मे प्रवेश कर गई थी।

धर्मरुचि अनगार ने धर्म की रक्षा के लिए कटुक तूबे का शाक स्वेच्छा से खा लिया और प्राण त्याग दिये, और उससे मरने वाली कीडियो की प्राणरक्षा कर ली। इन महापुरुषो को धर्म के प्रति कितनी अटूट श्रद्धा थी ! उन्होने धर्म के परमानन्द-मय स्वरूप को हृदयंगम कर लिया था और जीवनमरण को समान रूप मे देख लिया था। उनमे यह शक्ति धर्म की बदौलत ही आई थी। धर्म के बिना ऐसी अपूर्व वीरता आ ही नही आ सकती। धर्महीन जन कायर होते है। वे शरीर के विनाश को अपना विनाश जान कर भयभीत होते है और हाय-हाय करते है

बालक हकीकतराय का वृत्तान्त इतिहास प्रसिद्ध है। वह क्षत्रिय कुल मे उत्पन्न हुआ था और पास की एक मुसलमानी पाठशाला मे पढ़ा करता था। एक दिन पाठशाला मे मुसलमान लडको ने हिन्दुओ के देवो की निन्दा की और गाली-गलौज किया। किन्तु वह भक्त ही क्या जो अपने देव और गुरु की निन्दा अपने कानो से सुनता रहे। हकीकतराय ने उन मुस्लिम बालकों को नम्रतापूर्वक मुँहतोड़ उत्तर दिया। शास्त्रो मे लिखा है कि यदि देव गुरु और धर्म की निन्दा होती हो तो युक्तियुक्त उत्तर दो और कदाचित् बोलने की परिस्थिति न हो तो वहाँ से हट जाओ, स्थानान्तर कर दो, किन्तु धर्म, गुरु और देव की निन्दा मत सुनो। आज तो कितने ही धर्म के ठेकेदार मुँह पर पट्टी बाँध कर और आसन बिछा कर पारस्परिक निन्दा के धुर्रे चलाते है। कहते है—यह ऐसा है, वह ऐसा है, अमुक ने ऐसा किया, फलाने ने वैसा किया !

अरे मनुष्य ! परनिन्दा का पाप करके क्यो आत्मा को मलीन बनाता है ? क्यो दूसरे की गंदगी को अपने मे भरता है ? यदि बन सके तो किसी की प्रशंसा कर। इतनी उदारता न हो तो कम से कम निन्दा तो मत कर। किन्तु जो स्वय देव-गुरु की निन्दा करने से नहीं हिचकता, उसे दूसरो द्वारा की जाने वाली निन्दा को सुनने मे भी क्या आपत्ति होगी ? लेकिन याद रखिए, कहा है—'निन्दा मत कर पारकी, निन्दा से थाय छे नारकी।'

हॉ, तो जब मुसलमान लड़को ने हकीकतराय के सामने हिन्दू-देवो की निन्दा की तो उसे वह असह्य हो गई। ऐसा क्यो न होता ? वह क्षत्रियपुत्र था। उसे क्षत्रियाणी माता ने लौरियाँ सुनाई थीं। उसने फौरन ही नहले पर दहला मारा। पैगम्बर के

ष बतलाए। धीरे-धीरे मामला बढ़ गया और इतना बढ़ा कि
ौलवी के पास भेजा गया। उन दिनो मुसलमानी शासन था
और मुसलमानो के ही हाथ में सत्ता थी। मौलवी ने बालक
क़ीकत को तलब किया और पूछा—क्या तू ने महान् पैगम्बरो
की निन्दा की है ? हकीकतराय ने उत्तर दिया—हाँ, मैने होती
हुई बात कही है। हकीकतराय ने साहसपूर्वक उत्तर दिया। यद्यपि
वह छोटी उम्र का था, किन्तु वीर और साहसी था और जानता
था कि सत्य मे भय नहीं होता। उसने भय के कारण मिथ्या को
आश्रय नहीं दिया।

मौलवी ने पूछा—पैगम्बरो की क्यो निन्दा की तू ने ?

हकीकत—आप इन लड़को से ही पूछ ले। पहले इन्होने
हमारे देवो की निन्दा की। बाद मे मुझे कुछ कहना पड़ा।

बालको की बाते सुन कर मौलवी को यही कहना चाहिए
था कि—'खबरदार बच्चो! आपस मे कोई किसी की निन्दा मत
किया करो।' मगर मौलवी स्वय मतान्ध था। मतान्ध मनुष्य
उचित-अनुचित का ठीक विचार नहीं कर पाता। अतएव उसने
बिना सोचे-समझे हुक्म दे दिया—'इस छोकड़े को प्राणदण्ड दे
दिया जाय।

मामला बढ जाता है। आखिर लाल किताब निकाली
गई, अर्थात् क़ुरान शरीफ को टटोला गया और फैसला वही बर-
करार रहा—जो हमारे पैगम्बरो की निन्दा करे उसके लिए प्राण-
दंड ही समुचित सजा है।

बालक हकीकत ने अपने लिए यह आदेश सुना, मगर
उसके दिल मे कोई घबराहट नहीं हुई। प्राणदण्ड की सज़ा सुन

कर भी जिसके दिल मे कोई मलाल या रंजिश न हो, उसी को धर्म के प्रति सच्चा और वफादार समझना चाहिए। वह बालक शेर की तरह खड़ा रहा।

मौलवी ने दूसरी तरफ का कोई खयाल नहीं किया और एकतरफा फैसला सुना दिया—'लड़के! तुझे मौत की सजा दी जाएगी!'

हकीकत—आपके हाथ मे सत्ता है। जो चाहे सो कर लीजिये। किन्तु याद रखिए, हमेशा यह सत्ता हाथ मे रहने वाली नहीं है।

ऐ सूरज! तू ज्यादा जोशोखरोश मत दिखला। तेरी यह चमक ज्यादा देर ठहरने वाली नहीं है। 'चार पहर की चादनी, फेर अंधेरो रात' की उक्ति सभी पर लागू होती है। थोड़ी-सी देर के बाद तू ढूँढने पर भी नजर नहीं आएगा।

आखिर मतान्ध मौलवी का कातिल फैसला कामयाब होने लगा। लड़के को हिरासत मे ले लिया गया। स्यालकोट की गली गली मे हर फर्दोबशर की जबान पर यही अलफाज थे—आज एक होनहार लड़के को अन्यायी, जुल्मी, मतान्ध सत्ताधीश के द्वारा प्राणदण्ड दिया जा रहा है! मगर वहाँ सुनने और समझने वाला था ही कौन?

मौलवी ने प्राणदंड दिये जाने से पहले हकीकतराय से कहा—लड़के, गलती हो गई है तो कोई हर्ज नहीं। तू इसके लिए माफी माँग ले! तेरी मौत की सजा मसूख कर दी जाएगी

हकीकत ने पूछा—क्या करना होगा मुझे ?

मौलवी—हिन्दूधर्म छोड़कर तू इस्लाम धर्म को अंगीकार ले। तुझे माफ कर दिया जाएगा।

हकीकतराय ने हँस कर कहा—मुसलमान बनने पर फिर तो कभी मौत नहीं आएगी ? आप खुदा की साक्षी से कह दीजिए, मैं अमर हो जाऊँगा न ? कुरान हाथ मे लेकर पट्टा लिख दीजिए कि बाद मे कभी मेरी मौत नही होगी।

बालक की यह बात सुनकर मौलवी भी चकरा गया। उसने कहा—ओ भाई ! तुझे अभी जो मौत की सजा दी जा रही है, उससे बच जाएगा। आगे की गारटी मै नही ले सकता।

तब बालक ने हँस कर कहा—महरबान, आप तो बुजुर्ग है, पढ़े-लिखे है, गुरु के स्थान पर माने जाते है। आप ही विचार कीजिए कि आखिर मुझे मरना ही पड़ेगा तो धर्म से भ्रष्ट होने से क्या लाभ है ? जब इस जिंदगी का खात्मा होना ही है तो फिर इसको रखने के लिए धर्म का परित्याग क्यो किया जाय ? जब मरना ही है तो धर्म की रक्षा के लिए मरना क्या बुरा है ?

आखिर जुल्मी सत्ता के द्वारा वह कत्ल कर दिया गया। उसने प्राण दे दिये, पर धर्म से इंच भर भी पीछे हटने का विचार नही किया। इसलिए मै कहता हूँ कि धर्म को समझना कठिन है, करना कठिन नही।

सज्जनो ! मैने कहा था कि धर्म ऐसी वस्तु नहीं जो साधुओ तक ही सीमित हो या साध्वियो तक ही सीमित हो अथवा मदिर

मस्जिद आदि मे ही सीमित हो। धर्म विश्वव्यापी वस्तु है। इसके विना किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, जीवन रूपी बही के प्रत्येक खाते मे धर्म की आवश्यकता है। मानव जीवन की प्रत्येक क्रिया मे धर्म का विचार ओतप्रोत होना चाहिए। जहाँ विवेकपूर्वक कार्य किया जाता है वहीं धर्म है और जहाँ अविवेक है वहाँ पाप है।

श्री ठाणांगसूत्र मे दस प्रकार के धर्म बतलाए है, जिनमे एक कुलधर्म भी है। कुल की सुरक्षा धर्म पर निर्भर है। वही कुल सुरक्षित रहेगा, जिसमे धर्म का वास होगा। जिस कुल के सदस्य मांस खाते हो, मदिरापान करते हो, जुआ खेलते हो, वेश्यागामी हो या अडे खाते हो, वह कुल अन्ततः नष्ट हुए विना नहीं रहता। सज्जनो! मगर आजकल तो मामला ही और हो गया है। वावूजी को घर की रोटी पसद नही आती और होटल का खाना पसद आता है और फिर उसका नाम भी क्या? 'हिन्दू हो टल' अर्थात् जिसमें हिन्दूपन हो तो वह भी टल जाय-चला जाय! और आज अडे खाना तो मामूली-सी चीज है। आर्यकुलो में उत्पन्न होने वाले वच्चे भी खाने लगे है। किन्तु याद रखिये, यह पतन की निशानी है। धर्म से समकित का और समकित से धर्म का रक्षण होता है। यह हाथ उस हाथ का और वह हाथ इस हाथ का रक्षण करता है।

इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि राष्ट्र, जाति और समाज से धर्म का अटूट सम्बन्ध है। अतएव धर्म का पतन जाति एवं राष्ट्र का पतन है और धर्म का उत्थान राष्ट्र एवं जाति का उत्थान है। गाड़ी का पहिया तो आपने देखा ही है। उसमें एक नाभि होती है और नाभि मे अनेक आरे होते हैं। दोनो का

दोनो के साथ संबंध है। इसी प्रकार राष्ट्र और समाज और जाति का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जिस जाति मे जहालत, अत्याचार और पापाचार बढ़ जाता है, उस जाति का ह्रास और पतन निश्चित है। इसके विपरीत जिस देश, समाज या जाति मे उच्चकोटि का चरित्र होता है, जिसमे से कुरूढ़ियाँ निकल जाती हैं, समझो कि वहाँ विकास हो रहा है। अभिप्राय यह है कि धर्म के विना समाज और समाज के विना धर्म नही टिक सकता। धर्म के विना समकित भी सुरक्षित नही रह सकता।

तो मै कह रहा था कि धर्म का आचरण करना मुश्किल नहीं, वरन् धर्म को समझना मुश्किल है। वह समझ ज्ञान के द्वारा आती है। आज मनुष्य अज्ञान के कारण बात-बात मे झूठ बोलता है, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कसम खाता है, किन्तु उसे समझ लेना चाहिए कि विजय जब होती है तो सत्य की ही होती है। पाप विजयी नही हो सकता। दीपक बुझने को होता है तो उसकी लौ बढ़ती हुई मालूम होती है, वह झग-झग रोशनी करता है। उस हालत मे समझ लेना चाहिए कि अब वह बुझने वाला है। इसी प्रकार समाज मे जब अन्याय, अत्याचार, स्वार्थपरायणता, आदि दोष आ जाएँ तो समझ लो कि वह समाज खत्म होने ही वाला है।

सज्जनो! मैंने कहा है कि सत्य की विजय होती है। श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा है कि सत्यव्रती सम्यक्त्वी की बातो पर संसार को विश्वास होता है, देव भी समकिती के दर्शन करते है। झूठे मनुष्य से देव किनारा कर जाते हैं।

मस्जिद आदि मे ही सीमित हो। धर्म विश्वव्यापी वस्तु है। इसके विना किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे, जीवन रूपी वही के प्रत्येक खाते मे धर्म की आवश्यकता है। मानव जीवन की प्रत्येक क्रिया मे धर्म का विचार ओतप्रोत होना चाहिए। जहाँ विवेकपूर्वक कार्य किया जाता है वही धर्म है और जहाँ अविवेक है वहाँ पाप है।

श्री ठाणांगसूत्र मे दस प्रकार के धर्म बतलाए है, जिनमे एक कुलधर्म भी है। कुल की सुरक्षा धर्म पर निर्भर है। वही कुल सुरक्षित रहेगा, जिसमे धर्म का वास होगा। जिस कुल के सदस्य मांस खाते हो, मदिरापान करते हो, जुआ खेलते हो, वेश्यागामी हो या अडे खाते हो, वह कुल अन्ततः नष्ट हुए बिना नहीं रहता। सज्जनो! मगर आजकल तो मामला ही और हो गया है। बाबूजी को घर की रोटी पसद नहीं आती और होटल का खाना पसद आता है और फिर उसका नाम भी क्या? 'हिन्दू हो टल' अर्थात् जिसमें हिन्दूपन हो तो वह भी टल जाय-चला जाय! और आज अडे खाना तो मामूली-सी चीज है। आर्यकुलो मे उत्पन्न होने वाले बच्चे भी खाने लगे है। किन्तु याद रखिये, यह पतन की निशानी है। धर्म से समकित का और समकित से धर्म का रक्षण होता है। यह हाथ उस हाथ का और वह हाथ इस हाथ का रक्षण करता है।

इस प्रकार आप समझ गये होगे कि राष्ट्र, जाति और समाज से धर्म का अटूट सम्बन्ध है। अतएव धर्म का पतन जाति एवं राष्ट्र का पतन है और धर्म का उत्थान राष्ट्र एवं जाति का उत्थान है। गाड़ी का पहिया तो आपने देखा ही है। उसमें एक नाभि होती है और नाभि में अनेक आरे होते हैं। दोनों का

दोनो के साथ संबंध है। इसी प्रकार राष्ट्र और समाज और जाति का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

जिस जाति मे जहालत, अत्याचार और पापाचार बढ़ जाता है, उस जाति का ह्रास और पतन निश्चित है। इसके विपरीत जिस देश, समाज या जाति मे उच्चकोटि का चरित्र होता है, जिसमे से कुरूढ़ियाँ निकल जाती है, समझो कि वहाँ विकास हो रहा है। अभिप्राय यह है कि धर्म के बिना समाज और समाज के बिना धर्म नहीं टिक सकता। धर्म के बिना समकित भी सुरक्षित नहीं रह सकता।

तो मै कह रहा था कि धर्म का आचरण करना मुश्किल नहीं, वरन् धर्म को समझना मुश्किल है। वह समझ ज्ञान के द्वारा आती है। आज मनुष्य अज्ञान के कारण बात-बात में झूठ बोलता है, अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए कसम खाता है, किन्तु उसे समझ लेना चाहिए कि विजय जब होती है तो सत्य की ही होती है। पाप विजयी नहीं हो सकता। दीपक बुझने को होता है तो उसकी लौ बढ़ती हुई मालूम होती है,वह झग-झग रोशनी करता है। उस हालत मे समझ लेना चाहिए कि अब वह बुझने वाला है। इसी प्रकार समाज मे जब अन्याय, अत्याचार, स्वार्थपरायणता, आदि दोष आ जाएँ तो समझ लो कि वह समाज खत्म होने ही वाला है।

सज्जनो ! मैंने कहा है कि सत्य की विजय होती है। श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र मे कहा है कि सत्यव्रती सम्यक्त्वी की बातो पर संसार को विश्वास होता है, देव भी समकिती के दर्शन करते है। झूठे मनुष्य से देव किनारा कर जाते हैं।

एक दरिद्र व्यक्ति था। उसके पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। उसके घर मे परिवार था और उसका पालन-पोषण भी उसके लिए कठिन हो गया था। व्यापार करने के योग्य पूंजी भी उसके पास नहीं थी और न गरीबी के कारण वह व्यापार करने का तरीका ही सीख सका था। वह हर तरह लाचार और मोहताज था। वह बहुत परेशान हो गया तो उसे एक सूझ आई। उसने सोचा—कुल्हाड़ी लेकर जंगल से लकड़ियाँ काट लाऊँ और उन्हे बेच कर अपना और अपने परिवार का निर्वाह करूॅ। उसने यही किया। कुल्हाड़ी लेकर जंगल में गया। उसे नदी के किनारे एक पेड़ दिखाई दिया, जिसकी एक शाखा सूखी हुई थी। वह उस पर चढ़ गया और सूखी शाखा को काटने की तैयारी मे ही था कि उसका पाप वहाॅ भी उदय मे आ गया।

शास्त्रो मे आठ कर्म बतलाये गये हैं—(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय। अन्तिम कर्म अन्तराय है। प्रश्न किया गया है कि अन्तराय कर्म उदय में आता है, तो क्या गुल खिलाता है? भगवान् ने फर्माया—हे शिष्य! अन्तराय कर्म जब उदय मे आता है तो वह दो काम करता है—प्रथम तो जीवन के मिले हुए साधनो को, सामग्री को, नष्ट करता है और दूसरे, नवीन साधन नहीं प्राप्त होने देता। मनुष्य बम्बई कलकत्ता या मद्रास जाता है बड़े-बड़े मन्सूबे लेकर, किन्तु कर्म साथ मे रहते है।

हाॅ, तो जब गरीब लकडहारा लकड़ी काटने की तैयारी कर रहा था तो कुल्हाड़ी हाथ से छिटक कर नदी में गिर गई। नदी गहरी थी, वह कुल्हाडी निकालने में असमर्थ था। अतएव उसकी आँखो के आगे अंधेरा छा गया। वह निराश हो गया।

सोचने लगा—'आह ! मेरे जीवन का साधन चला गया ! भूखे बच्चे और गरीबिनी पत्नी प्रतीक्षा मे होगे। किन्तु मै उनके खाने के लिए क्या लेकर जाऊँगा ? यह सोच कर वह फूट-फूट कर रोने लगा और आँसुओ से अपना मुखडा धोने लगा। उसके हृदय-विदारक रुदन ने वन के पशु-पक्षियो को भी रुला दिया। थोडी देर बाद विमान मे बैठ कर जाता हुआ एक देव उधर से निकला उसने रुदन की करुण ध्वनि सुनी तो ठिठका और नीचे उतरा। उस गरीब से पूछा—भाई, तुम्हारे रुदन का कारण क्या है ? जब देव ने सान्त्वना दी तो उसने सारी कहानी कह सुनाई। वह बोला—मै गरीब हूँ, परिवार वाला हूँ, आजीविका का कोई साधन मुझे प्राप्त नही है। एक कुल्हाडी ही मेरा सर्वस्व थी, सो वह भी इस नदी मे गिर गई। अब मै बच्चो को कैसे भोजन खिलाऊँगा ? बेचारे भूखे मर जाएँगे।

गरीब की रामकहानी सुन कर देव को दया आ गई। उसने कहा—'रोओ मत, मै तुम्हारी सहायता करने को तैयार हूँ !' भाइयो ! ऐसा होना ही चाहिए। वह दिल ही क्या, जिसमे करुणा न हो।

उस देव ने उसी समय दैवी शक्ति से एक सोने की कुल्हाड़ी निकाली और पूछा—क्या तुम्हारी कुल्हाड़ी यही है ?

जगमग-जगमग करती पीली कुल्हाड़ी देखकर भी वह गरीब, जिसके हृदय मे सत्य का प्रकाश था, बोला—नहीं, यह मेरी नही है।

देव ने बहुतेरा कहा—अरे भाई, ले ले। यह बड़े काम की चीज है, किन्तु उसने लेना स्वीकार नहीं किया। वास्तव में देवता

उसकी परीक्षा ले रहा था कि यह सत्यव्रती है या नहीं? अभी यहाँ आप लोगो की परीक्षा ली जाय तो पता चल जाएगा कि कौन-कौन इस परीक्षा मे उत्तीर्ण होते है? कहा है—

सब ही बाजे लश्करी, सब लश्कर मे जाय।
हाथ धमूका जो सहे, वह जागीरी खाय॥

पतिव्रता कहलाने वाली तो बहुत हैं, परन्तु परीक्षा मे खरी उतरे तभी उन्हे वास्तव मे पतिव्रता कहा जा सकता है। कर्म तो परीक्षा ले ही रहे थे, देवता भी उसकी परीक्षा लेने लगा। आज उस गरीब की कठिन परीक्षा का समय था।

गरीब ने सोने की कुल्हाड़ी न ली तो देव ने अब की बार एक चांदी की कुल्हाडी निकाली और कहा—ले, यह तेरी ही कुल्हाड़ी है, इसे ले ले। गरीब ने उसे देख कर फिर कहा—यह भी मेरी नहीं है। मैं तो अपनी ही कुल्हाड़ी लेना चाहता हूँ।

देखो सज्जनो! देवता सोने और चांदी की कुल्हाडी दे रहा है, मगर गरीब अपनी सत्य की प्रतिज्ञा पर अटल है। वास्तव में इस प्रकार दृढ़प्रतिज्ञ जनो की ही विजय होती है। ब्यावर वालो! उस जगह पर तुम होते तो वह सोने चांदी की कुल्हाड़ी ले लेते या नहीं? दुनिया के लोगो! यह तो कसौटी है! कष्ट के समय धर्म पर दृढ़ रहना ही वीरो का काम है।

तीसरी वार देव ने लोहे की कुल्हाड़ी दिखलाकर पूछा—'क्या यही तुम्हारी कुल्हाड़ी है? तव उस गरीब ने कहा—हाँ साहब, यही मेरी है!' तब देव कहता है—हे भद्र पुरुष! जब मैं

तुम्हे सोने और चांदी की कुल्हाड़ी दे रहा था, तब तुमने क्यों नहीं ली ? ले लेते तो इस लोहे की कुल्हाड़ी की और लकड़ियाँ काटने की आवश्यकता ही न रहती। उस गरीब ने कहा—आप ठीक कहते हैं, पर वह मेरी नही थी, तो ले कैसे लेता ?

किन्तु आज क्या स्थिति है ? भले ही दूसरे का माल हो, मगर अपना बतलाते सकोच भी न होगा । वास्तव मे ऐसे समय मे ही धर्म की परीक्षा होती है। आज तो लोग बात-बात मे बेई-मानी कर जाते है। मगर उस गरीब को देखो जो दरिद्रता से दबोचा हुआ था, जिसकी आजीविका के सभी द्वार बंद थे और जिसके नन्हे-नन्हे बालक भूखे तडफते थे। ऐसी दशा मे भी वह सोने--चांदी की कुल्हाडियाँ लेने को तैयार नहीं हुआ। फल यह हुआ कि उसकी सत्यनिष्ठा, निर्लोभता और प्रामाणिकता से देवता भी प्रसन्न हो गया और सोने-चांदी की कुल्हाड़ियाँ भी उसे दे दीं। वह हर्ष से विभोर होकर जब घर पहुँचा तो उसके परिवार की प्रसन्नता का भी पार न रहा। सत्य के महान् प्रभाव से उसकी दरिद्रता भी दूर हो गई। उसे किसी चीज की कमी नही रही।

एक दिन वह अपने मित्र के पास पहुँचा। उसे आप-बीती रामकहानी सुनाई। उसके मित्र ने सोचा—यह तो बड़े ऊँचे दर्जे का व्यापार है। एक ही दाव मे मालामाल होने का मौका है। अब इस रुई और तेल के व्यापार की आवश्यकता ही क्या है ? बस, वह कुल्हाडी लेकर जगल मे गया और उसी पेड़ पर चढकर ठक--ठक करने लगा। थोड़ी देर बाद जानबूझ कर हाथ से कुल्हाड़ी छोड़ दी और रोने बैठ गया। सयोगवश वही देवता फिर उधर से निकला। उसने रोने का कारण पूछा तो इसने सब



दर्शनविशुद्धि की योजना

[३]

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः, हे वीर ! भद्रं दिश ॥

× × × ×

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम् ॥

भद्र पुरुषो और धर्म बहिनो !

शास्त्रों मे बतलाया है कि भूतकाल में हमारे जितने भी धर्मप्रवर्त्तक, धर्म के नेता तीर्थङ्कर भगवान् हुए, उन सबका यही

ध्येय रहा है, उद्देश्य रहा है और दृष्टि रही है कि संसार के समस्त जीवों का कल्याण हो, सभी आत्माएँ शान्ति उपलब्ध करने मे समर्थ बन सकें। उन महापुरुषो की सदैव यही भावना रही है कि जैसे हम अपनी आत्मा को विकसित कर पाये हैं, उन्नत कर पाये है, अपने शुद्ध स्वरूप मे ले आये हैं, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा अपने आपको उन्नत बना सके और सहज सुख की प्राप्ति करके कृतकृत्य हो। और फिर उनकी भावना कोरी भावना ही नहीं रही, वे केवल भावना करके ही, मौन करके नहीं बैठ गए, किन्तु वे आगे भी बढ़े। उन्होने मुक्ति प्राप्त करने के लिए, निर्वाण प्राप्ति के हेतु जगत् के समक्ष अनेक साधनो का प्ररूपण किया–अनुष्ठान करने की विधि सिखलाई। उन्होने यही सिखलाया कि हम सब इन सिद्धान्तो को, नियमो का पालन करके इस दर्जे पर पहुँचे है, तुम सब भी इसी पथ का अनुसरण करके अपने जीवन को ऊँचा बना सकते हो।

जैनधर्म ने सभी प्राणियो को, अपने जीवन को विकसित करने की—जीवन की चरम विकासमयी अवस्था अर्थात् परमात्मपद की प्राप्ति की स्वतंत्रता प्रदान की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट मोक्षमार्ग अमुक जाति या वर्ण आदि के लिए सीमित नहीं है। उसपर किसी वर्ण अथवा वर्ग का आधिपत्य नहीं है। इसी कारण तीर्थंकर भगवान् 'लोगहियाणं' अर्थात् लोक के हितैषी कहलाते है। उनकी यह हितकरता देश, काल, जाति, लिंग आदि की समस्त कृत्रिम सीमाओं से अव्याहत है। उसका कोई दायरा नहीं है। वह आकाश की भाँति व्यापक है और ध्रुव है। अतएव वे सम्पूर्ण लोक के हितैषी थे।

लोक क्या है? लोक कितने है? शास्त्र मे कहा है—'लोकयतीति लोकः' अर्थात् जिसमें अवलोकन करने की शक्ति है, जीवन

का बोध करने की शक्ति है, वह लोक कहलाता है। वह लोक छह प्रकार का है--

'पुढ़वीलोए, आउलोए, तेउलोए, वाउलोए, वणस्सइलोए, तसलोए।'

यहाँ सर्वप्रथम पृथ्वीलोक का निर्देश किया गया है। आप कहते है कि—'आज तो बहुत लोग इकट्ठे हो गये।' तो यहाँ लोक का अर्थ जनसमुदाय है। मगर आप 'लोग' शब्द का प्रयोग केवल मनुष्यो के लिए ही करते है। 'बहुत से लोग इकट्ठे हो गये हैं' इसमे आपने पशुओ को परिगणित नही किया है। इसका कारण यह है कि आपकी दृष्टि सीमित है, किन्तु केवलज्ञानियों की दृष्टि असीम है। उन्होंने आत्मभाव मे ही लोक माना है। जैसे आप लोक के अन्तर्गत है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियादि सबको लोक के अन्तर्गत किया गया है।

तो पृथ्वी भी लोक है। पृथ्वी न होगी तो लोक कहाँ से होगा? पृथ्वी भी लोक का एक पुर्जा—एक अंश है। पृथ्वी के जीव भी लोक के पूरक है। जैसे एक रुपये मे ६४ पैसे होते हैं तो उनमे से एक पैसा भी रुपया का पूरक है। रुपये मे से एक पैसा निकल जाता है तो रुपये मे कमी हो जाती है। वह रुपया नही रहता। हाँ, उसमे पुनः एक पैसा मिला दिया जाय तो फिर वह रुपया बन जाता है। इसी प्रकार यदि हम एक भी वस्तु को अलग कर देते है तो लोक रूपी रुपया अधूरा रह जाता है। पृथ्वी के जीवो की सख्या असख्यात है, अनन्त नहीं। ज्ञानियो ने उनके विषय मे बहुत-कुछ बतलाया है। उनकी संख्या, आयु,

अवगाहना, शरीर, प्राण, लेश्या, कर्म, गति, उपयोग, योग आदि का दिग्दर्शन कराया है, ताकि पिछड़ी हुई दुनिया के लोग यह न समझ ले कि इनके प्रति उपेक्षा बरती गई है।

सज्जनो ! एक चने के बराबर मिट्टी मे भी असंख्यात जीव बतलाये गये है। यदि वे कबूतर के बराबर शरीर धारण कर ले तो समस्त लोक परिपूर्ण हो जाय, फिर भी उसमे न समावें। अतएव वे लोक की एक इकाई है, पूरक है। अतएव विवेकवान् श्रावको को राख या प्रासुक मिट्टी के सिवाय सचित्त मिट्टी को काम मे नही लाना चाहिए।

पानी भी लोक है। समुद्र, नदी, तालाब आदि के जीव भी लोक मे परिगणित है। यह जीव भी असख्य है। अग्नि के जीवो की भी एक सृष्टि है। उनमे भी जीव है, चेतना है। इसी कारण जैनसाधु अग्नि का आरम्भ-समारम्भ नही करते। वायु भी लोक है। एक रुपये जितनी जगह मे, जितनी वायु होती है, उसमे असख्य जीवो की सत्ता बतलाई गई है। वायुकाय के दो भेद है— सचित्त और अचित्त। निसर्गत' जो वायु चलती है वह सचित्त है और हम लोगो के मुख से, पखा चलाने से, या पैरो की धमक से जो वायु निकलती है, वह अचित्त है, निर्जीव है। किन्तु इस अचित्त वायु से सचित्त वायु की हिंसा होती है। अतएव इस वायु से परहेज करना चाहिए।

वनस्पति भी आपके समान है। जैसे मानव-शरीर की तीन अवस्थाएँ होती है—बाल, युवा और वृद्धावस्था, इसी प्रकार वनस्पति की भी यह तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार पाँच स्थावर और त्रसकाय मिलकर छह लोक होते हैं।

इन जीवो को लोक क्यो कहते है ? इनमें सुख दुःख को अवलोकन करने की शक्ति है, ये सजीव है। अथवा लोक में रहने के कारण उन्हे लोक कहते है। आशय यह है कि जैसे तीर्थंकर भगवान् ने मनुष्य संबंधी ठीक-ठीक हिसाब रक्खा है, वैसे ही एकेन्द्रिय जीवो का भी। उनके प्रति भी स्वय दया रक्खी है और रखने की प्रेरणा की है।

तो मै कह रहा था कि तीर्थकर भगवान् 'लोगहियाणं' हैं। वे सब का हित चाहते है। लोकहित के लिए उन्होने राजपाट छोड़ कर स्वय सब जोवो को अभयदान दिया। जब उन्होंने लोकहित चाहा तो उनका भी हित हो गया। दूसरे के हित मे अपना हित है। जो दूसरे को बनाता है उसकी बनती है और जो दूसरे की बिगाडता है, उसकी भी बिगड़ जाती है। याद रखना, जो दूसरो का बिगाड़ करता है, वह वास्तव मे अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मार रहा है, अपनी कब्र खोद रहा है और अपने ही मार्ग मे काँटे बिछा रहा है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि दूसरे की भलाई मे अपनी भलाई और दूसरो की बुराई में अपनी बुराई है। अतएव तीर्थ कर भगवान् लोकहितैषी है और लोकहित के लिए ही उन्होने उपदेश दिया है। भगवान् ने कल्याण के साधन बतलाते हुए अनेक साधन जैसे ज्ञान, ध्यान, जप, तप, वैराग्य, दान, शील आदि मोक्ष-प्राप्ति के लिए बतलाए है। किन्तु सब साधनों को शक्ति देने वाला, सजीव बनाने वाला और सब मे प्राण फूंकने वाला कोई साधन है तो वह समकित है। समकित सभी क्रियाओ मे जान डालने वाला है। समकित नहीं है तो सब क्रियाएँ थोथी हैं, जड़ है, प्राणहीन हैं। बिना समकित के की हुई क्रियाओ से मोक्ष मिलने वाला नहीं। अतएव ज्ञानी पुरुषों ने सम्यक्त्व के विषय मे बहुत कुछ बतलाया है। बार-बार दोहराया

है कि ऐ मनुष्य ! जब तक तुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक तेरी सभी क्रियाएँ द्रव्यक्रियाएँ है, भावक्रियाएँ नही। इन क्रियाओ से तुझे भौतिक सुख मिल सकते है और तू २१ वे देवलोक तक जा सकता है, किन्तु अनन्त सुखमय मोक्ष नहीं पा सकता। प्रथम एक का अंक लिखा और फिर दो बिन्दियाँ लगा दीं तो सौ की संख्या बन गई। तीन शून्य बना दिये तो हजार और इसी प्रकार जितने शून्य बढाते जाओगे, उतनी ही सख्या बढती जाएगी। मगर उस एक को हटा दिया जाय और शेष सब बिन्दियाँ रहने दी जाएँ तो उनका कुछ भी मूल्य नहीं है, महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार जितने भी नियम और उपनियम है, सब बिन्दियो के समान है। इनकी भी कीमत है, मगर उसी अवस्था मे जब पहले सम्यक्त्व रूपी एक के अंक को स्थान दिया जाय। सम्यक्त्व के अभाव मे समस्त क्रियाएँ बिना अंक के शून्य की भाँति है। अतएव सम्यक्त्व ही क्रियाओ को सजीव बनाता है।

सम्यक्त्व के अनेक भेद-प्रभेद है। उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन मे मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए भगवान् ने दस प्रकार का सम्यक्त्व बतलाया है। अन्य अपेक्षाओ से अन्य प्रकार के भी भेद किये गये है। परन्तु मूल तथ्य यह है कि जब तक सम्यक्त्व दृढ नहीं है, तब तक गाड़ी आगे चलने वाली नहीं। उस समकित के भिन्न-भिन्न नाम है। आप यह न सोचे कि समकित के भी टुकड़े-भांगे कैसे हो सकते है? जब समकित अमूर्त्तिक है, अरूपी है तो उसके भेद-प्रभेद कैसे हो सकते है? वास्तव मे समकित जो तत्त्व है, वह एक ही है, अखण्ड है और उसके टुकड़े या विभाग होने वाले नहीं है, किन्तु उसकी प्राप्ति के जो साधन है, उनमे भिन्नता है, इसी कारण समकित के दस भेद किये गये है। जैसे मनुष्य क्षुधानिवृत्ति के लिए भोजन करता है।

इन जीवो को लोक क्यों कहते है ? इनमें सुख दुःख को अवलोकन करने की शक्ति है, ये सजीव है। अथवा लोक मे रहने के कारण उन्हे लोक कहते है। आशय यह है कि जैसे तीर्थंकर भगवान् ने मनुष्य सबंधी ठीक-ठीक हिसाब रक्खा है, वैसे ही एकेन्द्रिय जीवो का भी। उनके प्रति भी स्वय दया रक्खी है और रखने की प्रेरणा की है।

तो मैं कह रहा था कि तीर्थकर भगवान् 'लोगहियाणं' हैं। वे सब का हित चाहते है। लोकहित के लिए उन्होने राजपाट छोड़ कर स्वय सब जीवो को अभयदान दिया। जब उन्होंने लोक-हित चाहा तो उनका भी हित हो गया। दूसरे के हित मे अपना हित है। जो दूसरे को बनाता है उसकी बनती है और जो दूसरे की विगाड़ता है, उसकी भी विगड जाती है। याद रखना, जो दूसरो का विगाड करता है, वह वास्तव मे अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मार रहा है, अपनी कब्र खोद रहा है और अपने ही मार्ग मे काँटे बिछा रहा है। इसलिए ज्ञानी पुरुप कहते है कि दूसरे की भलाई मे अपनी भलाई और दूसरो की बुराई मे अपनी बुराई है। अतएव तीर्थकर भगवान् लोकहितैपी हैं और लोकहित के लिए ही उन्होने उपदेश दिया है। भगवान् ने कल्याण के साधन वतलाते हुए अनेक साधन जैसे ज्ञान, ध्यान, जप, तप, वैराग्य, दान, शील आदि मोक्ष-प्राप्ति के लिए वतलाए है। किन्तु सब साधनो को शक्ति देने वाला, सजीव बनाने वाला और सब में प्राण फूंकने वाला कोई साधन है तो वह समकित है। समकित सभी क्रियाओं मे जान डालने वाला है। समकित नहीं है तो सब क्रियाएँ थोथी है, जड़ है, प्राणहीन हैं। बिना समकित के की हुई क्रियाओ से मोक्ष मिलने वाला नही। अतएव ज्ञानी पुरुषों ने सम्यक्त्व के विपय मे बहुत कुछ वतलाया है। वार-वार दोहराया

है कि ऐ मनुष्य ! जब तक तुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हो जाती, तब तक तेरी सभी क्रियाएँ द्रव्यक्रियाएँ है, भावक्रियाएँ नही। इन क्रियाओ से तुझे भौतिक सुख मिल सकते है और तू २१ वे देवलोक तक जा सकता है, किन्तु अनन्त सुखमय मोक्ष नहीं पा सकता। प्रथम एक का अंक लिखा और फिर दो बिन्दियाँ लगा दीं तो सौ की संख्या बन गई। तीन शून्य बना दिये तो हजार और इसी प्रकार जितने शून्य बढाते जाओगे, उतनी ही संख्या बढती जाएगी। मगर उस एक को हटा दिया जाय और शेष सब बिन्दियाँ रहने दी जाएँ तो उनका कुछ भी मूल्य नही है, महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार जितने भी नियम और उपनियम हैं, सब बिन्दियो के समान है। इनकी भी कीमत है, मगर उसी अवस्था मे जब पहले सम्यक्त्व रूपी एक के अंक को स्थान दिया जाय। सम्यक्त्व के अभाव मे समस्त क्रियाएँ बिना अक के शून्य की भाँति है। अतएव सम्यक्त्व ही क्रियाओ को सजीव बनाता है।

सम्यक्त्व के अनेक भेद-प्रभेद है। उत्तराध्ययन के २८ वे अध्ययन मे मोक्षमार्ग का वर्णन करते हुए भगवान् ने दस प्रकार का सम्यक्त्व बतलाया है। अन्य अपेक्षाओ से अन्य प्रकार के भी भेद किये गये है। परन्तु मूल तथ्य यह है कि जब तक सम्यक्त्व दृढ नही है, तब तक गाडी आगे चलने वाली नहीं। उस समकित के भिन्न-भिन्न नाम है। आप यह न सोचे कि समकित के भी टुकड़े-भांगे कैसे हो सकते है? जब समकित अमूर्त्तिक है, अरूपी है तो उसके भेद-प्रभेद कैसे हो सकते है? वास्तव मे समकित जो तत्त्व है, वह एक ही है, अखण्ड है और उसके टुकड़े या विभाग होने वाले नहीं है, किन्तु उसकी प्राप्ति के जो साधन है, उनमे भिन्नता है, इसी कारण समकित के दस भेद किये गये है। जैसे मनुष्य क्षुधानिवृत्ति के लिए भोजन करता है।

कोई हलुवा-पूड़ी खाता है, कोई खीर खाता है, कोई नमकीन खाता है, कोई दूध या फल का सेवन करता है, किन्तु सब का उद्देश्य है क्षुधानिवृत्ति करना। तो भूख की निवृत्ति होना एक वस्तु है, दस नहीं, किन्तु उसके साधन अनेक है। इसी प्रकार सम्यक्त्व एक होने पर भी उसकी उपलब्धि के तरीके दस हैं। अथवा यों कहिए कि किसी रोगपीडित मनुष्य की चिकित्सा हुई। उसने औषधियों का सेवन किया। उनसे उसे आराम मिल गया। तो आराम, आरोग्य या तन्दुरुस्ती मिलना एक वस्तु है और आरोग्यता प्राप्ति के साधन अनेक है। किसी को होमियोपैथी से, किसी को ऐलोपैथी से या किसी को आयुर्वेदिकचिकित्सा से आराम मिला। किसी को हिकमत से आरोग्यलाभ हुआ। आशय यह है कि आरोग्यता का लाभ होना एक वस्तु है, मगर उसके साधन अनेक हैं। यही सम्यक्त्व के विषय मे है।

सज्जनो ! इतने जो दृष्टान्त या हेतु दिये जाते हैं, वे सब शास्त्रो मे नहीं हैं। किन्तु मूल तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए, आपको समझाने के लिए अनेक छोटे-बड़े उदाहरण देने पड़ते है।

तो समकित के दस भेद हैं। उनके नाम क्या हैं और काम क्या है, यही बात स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी पुरुषो ने सम्यक्त्व का प्रथम भेद 'निसर्गरुचि' कहा है। दूसरा उपदेशरुचि, तीसरा आज्ञारुचि, चौथा सूत्ररुचि, पॉचवॉ बीजरुचि, छठा अभिगमरुचि, सातवॉ विस्ताररुचि, आठवॉ क्रियारुचि, नौवॉ संक्षेपरुचि और दसवॉ धर्मरुचि है।

कूप या तालाब का पानी सामान्यतः एक है, किन्तु उसके आने के स्रोत भिन्न-भिन्न होते हैं। कोई पूर्व से, कोई पश्चिम से,

कोई उत्तर से तो कोई दक्षिण से आता है। कोई ऊपर से तो कोई नीचे से आता है। किन्तु आने वाला पानी तो पानी ही है। इसी प्रकार आत्मा रूपी तालाब मे जो पानी आता है, वह एक है, उसका गुण भी एक ही है प्यास को बुझा देना, संताप का शमन कर देना एवं मैल को दूर कर देना। इसी प्रकार सम्यक्त्व किसी भी कारण से क्यो न प्राप्त हुआ हो, उसका गुण है मैल को धो डालना और आत्मा को शान्त बना देना।

हॉ, तो प्रथम समकित का नाम है निसर्गरुचि सम्यक्त्व। निसर्ग का अर्थ है स्वभाव। स्वभाव से अर्थात् अन्दर से ही पानी का बंबा कुए या बावड़ी मे निकलता है। तालाब मे विभिन्न दिशाओ से पानी बाहर से आकर इकट्ठा हो जाता है। इस प्रकार दोनो तरह से पानी का आगमन होता है। इसी प्रकार समकित प्राप्ति के भी दो कारण है—अन्तरंग और बहिरग। अन्दर से भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है और बाहर से भी, किन्तु कैसे भी क्यो न हो, हमे तो पानी चाहिए।

जो जमीन तर होती है, जिसमें खासी तरावट होती है, वहाँ अन्दर से ही पानी निकलता है। वहाँ बाहर से पानी की अपेक्षा करना ठीक नहीं। इसी प्रकार जिसका हृदय दया से आर्द्र है, तर है, उस आत्मा मे अन्दर से ही समकित का स्रोत फूट पड़ता है। तो इस प्रकार आत्मा मे देव, गुरु और धर्म के प्रति अन्दर से ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहते है। उस सम्यक्त्व की प्राप्ति कब होती है? जब मोहनीय कर्म का उपशम आदि होता है तभी सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है। जैसे मेहदी मे, अन्दर मे रंग है और निमित्त पाकर वह व्यक्त हो जाता

है, इसी प्रकार निसर्गरुचि सम्यक्त्व भी ज्ञानावरणीय और मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने पर स्वतः ही भीतर से समुद्भूत होता है। उदाहरणार्थ—जातिस्मरण ज्ञान से, जो आज भी किसी-किसी को होता है, समकित की प्राप्ति हो जाती है।

प्रश्न होगा कि ज्ञान तो मतिश्रुत आदि पाँच ही माने गये है, तब यह जातिस्मरण ज्ञान छठा कहाँ से आ गया ? इसका उत्तर यह है कि जातिस्मरण मतिज्ञान का ही अंश है। जाति का अर्थ है जन्म, अर्थात् पिछले जन्म का बोध होना कि मै अतीत भव मे अमुक अवस्था मे था, अमुक-अमुक मेरे कुटुम्बी थे, आदि-आदि। यह ज्ञान संज्ञी जीवो को ही होता है, असंज्ञी को नही होता। जिनके मन हो उन्हे संज्ञी कहते है और जिनके मन नही होता—विचार करने की विशिष्ट शक्ति नही होती, उन्हे असज्ञी कहते है। दूसरे, जो मनुष्य और तिर्यंच गर्भ से उत्पन्न होते है, वे सज्ञी कहलाते है और जो सम्मूर्छिम है, वे असज्ञी। नारक एवं देव गर्भ से उत्पन्न नही होते। नारक कुंभी से और देव शय्या से उत्पन्न होते है। देव अन्तमुहूर्त्त में बत्तीस वर्ष के नौजवान की तरह शय्या से उठता है। देव सब पंचेन्द्रिय होते है, संज्ञी होते है और नारक भी। मनुष्यो और तिर्यंचो मे ही सज्ञी-असज्ञी का भेद है। सज्ञी मनुष्यो की अपेक्षा असंज्ञी मनुष्य असख्यात गुणा अधिक है। इस प्रकार असज्ञी मनुष्यो की तुलना मे आप बहुत थोड़े है। फिर भी आपमे सोचने-विचारने की महान् शक्ति है। असज्ञी मनुष्यो की अवगाहना--असख्यातवें भाग मात्र की और आयु अन्तमुहूर्त्त मात्र की होती है। वे जन्मते और मरते है। यह सब बाते सर्वज्ञो ने बतलाई है। यह अल्पज्ञो के ज्ञान से बाहर की बातें है।

हाँ, तो जातिस्मरण ज्ञान संज्ञी जीवो को ही होता है, फिर चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो अथवा सम्यग्दृष्टि हो। पर सम्यग्दृष्टि का जातिस्मरण ज्ञान रूप होता है और मिथ्यादृष्टि का अज्ञान रूप होता है। दोनो के देखने और जानने मे बड़ा भारी अन्तर है। सम्यग्दृष्टि का देखना शुद्ध है, मगर मिथ्यादृष्टि देखता है तो और ही रूप मे देखता है। जातिस्मरणज्ञानी जघन्य पिछले एक भव से लेकर ६०० भवों तक देख सकता है। किन्तु शर्त यह है कि बीच मे उसने असंज्ञी का भव न किया हो। अगर असज्ञी का भव किया होगा तो न उसका स्मरण होगा और न उससे पहले के भवो का।

मै आपको बतला रहा था कि जातिस्मरण ज्ञान भी मति-ज्ञान का भेद है। आज भी कभी-कभी किसी किसी को जातिस्मरण ज्ञान होना सुना जाता है। दिल्ली मे हमारे ताऊ गुरु श्री छोटे-लालजी महाराज ठाणापति के रूप मे विराजमान थे। वहाॅ जौहरियो की तरफ से पुत्रीशाला चलती थी। उसमे कायस्थ जाति की भी एक लड़की पढ़ती थी। उसका नाम शान्तिदेवी था। वह छोटी अवस्था मे ही घूंघट निकालने लगी। यह देखकर जब लोगो ने पूछा कि यह क्या कर रही है? तो उसने उत्तर दिया— यह मेरे श्वसुर बैठे है और यह मेरे जेठ है। यह सुनकर लोगो ने समझा—छोकरी पागल हो गई है! जब इसका विवाह ही नहीं हुआ तो श्वसुर और जेठ कहाँ से आ कूदे? मगर लड़की ने गभीर भाव से कहा—आप मुझे पागल न समझे, मेरा उपहास न करे। ये इस जन्म के नहीं, पूर्वजन्म के है। वह इस प्रकार कहती रही और लोग सुनते रहे। किसी ने उसकी बात सत्य न मानी। घर वालो ने भी कोई ध्यान नहीं दिया। मगर लड़की का विज्ञान ज्यो-ज्यो बढ़ता गया, वह कहने लगी—मेरी बात में

सचाई है ! आखिर एक दिन उसने अपना पूर्वजन्म का वृत्तान्त विस्तार से बतला दिया। कहा—मैं मथुरा मे जन्मी थी और वहाँ मेरा विवाह हुआ था। असुक गली में मेरा घर था। घर के आंगन में कुआ था। उस आंगन में मेरे हाथ से गाड़े हुए इतने रुपये भी मिलेंगे।

आखिर लोग उसे मथुरा ले गये। स्टेशन से तांगे में बैठ कर चले। तांगे वाला दूसरे रास्ते ले जाने लगा तो लड़की ने कहा—घर इस गली मे नहीं, उधर ले चलो। वहाँ पहुँचने पर लड़की ने जो-जो बाते बतलाई थीं, सब सत्य पाई गई। लोगों को विश्वास करना पड़ा कि इस लड़की में वास्तव मे ज्ञान है। बाद में वह लड़की देहली लौट गई। वहाँ कम्पनी बाग में एक विशाल जलसा किया गया। जो लोग पुनर्जन्म नहीं मानते थे उनके समक्ष पूर्वजन्म का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करने के लिए और आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जल्से का आयोजन किया गया था। एक उच्च मंच पर शान्ति बाई को खड़ा किया गया और चुनौती दी गई कि जिसे पुनर्जन्म के विषय मे शंका या भ्रान्ति हो, वह इस लड़की से प्रश्न पूछकर स्पष्टीकरण कर सकता है।

पटियाला-नरेश ने भी उस लड़की को आमंत्रित किया। अन्य लड़कियों के साथ वह जैन उपाश्रय मे भी मुनिदर्शन के लिए आई थी। उस समय श्री छोटेलालजी महाराज की हालत नाजुक थी। लड़की से महाराज श्री के विषय मे प्रश्न किया गया और उसने जो भविष्य बतलाया, वह सत्य सिद्ध हुआ। आशय यह है कि आत्मा अनन्त ज्ञान की निधि है। उसमे ज्ञान की कमी नहीं है। सूर्य का प्रकाश आत्मिक प्रकाश का अनन्तवाँ भाग भी नहीं है।

सज्जनो ! समभाव हो, कषायो की मन्दता हो, हृदय मे शुद्धि हो, तो ज्ञानावरणीय कर्म का विशेष क्षयोपशम होने पर जातिस्मरण का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होने पर कभी-कभी समकित की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। ऊपर से कितने ही ग्रथो का बोझ लाद लो, विद्याएँ घोट डालो, उपाधियाँ प्राप्त कर लो, किन्तु क्षयोपशम के विना ज्ञान प्राप्त होने वाला नही है। अन्दर ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने पर ही ज्ञान का विकास एवं प्रकाश संभव है। जातिस्मरण ज्ञान होने पर रास्ता सीधा मालूम होने लगता है। आपने श्रीउत्तराध्ययन में वर्णित चित्त और सभूति का वृत्तान्त सुना होगा। चित्त देवगति से च्युत होकर सेठ का लड़का हुआ था और संभूति का जीव चक्रवर्त्ती राजा हुआ था। ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में ऐसा निदान किया था कि मेरी तपस्या का फल मिले तो मै चक्रवर्ती होऊँ ! इसके लिए चित्त मुनि ने मना भी किया मगर वह माना नहीं। उसने तपस्या रूपी रुई के ढेर मे निदान की चिनगारी लगा ली ! जिससे वह मोक्ष सुख से वंचित रह गया। उधर चित्त ने एक श्रेष्ठी के घर जन्म लिया। सांसारिक भोगने और अवस्था आने पर उसे मुनि की वाणी सुनने को मिली। तब उसे संसार से उपराम हो गया। साधु-अवस्था अंगीकार कर ली। तपस्या करते हुए विचरने लगे।

इधर संभूति का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती बन कर छह खंड की साधना करता है। और सर्वत्र अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। कुछ दिनों बाद उसे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त होता है और अपने पूर्वभवों को जान लेता है। जानते-जानते उसे पाँच

जन्मो का पता चल गया कि मै और चित्त पॉच भवो मे साथ-साथ रहे है, मगर छठे जन्म का पता नही लग रहा है कि मेरा भाई अभी कहाँ है? अतएव उसने पांच जन्मो का उल्लेख करने वाली एक गाथा के तीन चरण बनाये और घोषणा करवा दी कि जो चौथे चरण की पूर्ति करेगा, उसे पर्याप्त पारितोषिक मिलेगा। इस तरीके से वह अपने पॉच भवों के भाई की खोज करना चाहता था। मगर कोई पूर्ति करने वाला नही मिला। चित्त मुनि विहार करते-करते अकस्मात् उसी नगर के बाहर पधार गये। एक कृषक चरस चला रहा था और वही तीन चरण गाता जा रहा था। उधर से निकलते चित्त मुनि ने वह चरण सुने, ध्यान-पूर्वक सुने तो उन्हे विदित हुआ कि यह तो हमारे ही घर की बात है। हम पॉच भवों मे दास, मृग, हंस, श्वपचपुत्र और देव के रूप मे साथ-साथ रहे किन्तु छठे भव मे अलग-अलग हो गये हैं। यह सोच चित्त मुनि ने गाथा के चौथे चरण की पूर्ति कर दी।

किसान अतिशय प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त के पास पहुँचा और कहा—अन्नदाता! गाथा पूरी हो गई है। ब्रह्मदत्त ने गाथा सुनकर पूछा—किसने इसकी पूर्त्ति की है? कृषक ने कहा—पृथ्वीनाथ! मैने ही पूर्त्ति की समझिए। मै पारितोपिक का अधिकारी हूँ।

चक्रवर्त्ती ने कहा—पारितोपिक वही पाएगा जिसने पूर्त्ति की है। तुम सच कहो, किसने तुम्हे भेजा है?

कृपक—महाराज! नगर के बाहर एक बाबाजी आये हैं। उन्होने पूर्त्ति की है। उसी पूर्त्ति को लेकर मैं आया हूँ।

यह सुनकर चक्रवर्त्ती के प्रमोद का पार न रहा। उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि वह मेरा भाई चित्त ही है। वह तत्काल वहाँ पहुँचा। दोनो भाई प्रेम से मिले। दोनों का हृदय गद्‌गद हो गया। ब्रह्मदत्त बोले—जिस भाई के लिए मैं तड़फ रहा था, वह बिछुड़ा हुआ मेरा भाई मुझे मिल गया। आज मेरी कामना पूरी हुई। फिर ब्रह्मदत्त ने कहा—मैंने पादपूर्त्ति करने वाले को मुँहमागा इनाम देने की घोषणा की है। यदि राज्य माँगोगे तो मै वह भी दे दूँगा।

चित्त मुनि बोले—हम पिछले पाँच भवों मे साथ-साथ रहे। सुख-दुःख मे परस्पर काम आते रहे। एक दूसरे के लिए खून बहाते रहे। किन्तु यहाँ अलग-अलग हो गए। इसमें किसी का दोष नहीं है। तुम्हारी करनी ही इसके लिए उत्तरदायी है। तुम निदान (नियाणा) न करते तो पृथक् होने का यह अवसर न आता।

ब्रह्मदत्त को राज्य का नशा चढ़ा था। वह बोला—मैंने नियाणा करके क्या गँवाया ? सभी कुछ तो पा लिया है। यह छह खण्ड का राज्य, आज्ञाकारी सेवक, सेवा में सहस्रों देवो की उपस्थिति, सभी कुछ ठाठ तो हैं। मगर नियाणा न करके तुमने क्या पाया है ? यही न कि साधु बन कर हाथ मे झोली लटका ली और घर-घर भिक्षा माँगते फिरते हो ! यही क्या तपस्या का फल है ?

चित्त मुनि शान्तचित्त से बोले—ब्रह्मदत्त ! मै इस वेष मे भी नफे मे हूँ। टोटे में कोई है तो तुम्ही हो। जिस क्रिया से तुम्हे मोक्ष का अविनाशी अव्याबाध सुख मिलने वाला था, उसे तुमने

चक्रवर्त्तीपद के क्षणिक सुख के बदले बेच दिया। तुमने अलौकिक हीरे के बदले कंकर पाया ! और मेरी ऋद्धि के विषय में पूछना चाहते हो तो यह भी बतला दूँ कि मैं भी एक धनाढ्य सेठ का पुत्र हूँ, जिसे प्रचुर मात्रा मे धन-वैभव की प्राप्ति हुई थी। किन्तु दुःख का कारण समझ कर मैंने उसका परित्याग कर दिया है और अपने को मोक्ष की साधना मे सलग्न कर लिया है। अतएव न समझो कि मुझे कुछ नहीं मिला !

ब्रह्मदत्त ने कहा—खैर भाई, चलो, मेरे साथ चलो। मेरा सर्वस्व भी तुम्हारा ही है। क्यो भूखे मरते हो और कष्ट झेलते हो ! चक्रवर्त्ती का भाई जमीन पर शयन करे, नंगे पैरों चले और माँगकर टुकड़े खाए, यह शोभा नहीं देता। आओ, ससार के सुख भोगो। वह महल और अनुपम भोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनका उपभोग करो। मनुष्य का जन्म पुनः पुनः मिलने वाला नहीं !

चक्रवर्त्ती क्या निराला उपदेश देने चले हैं कि मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता। मगर इन शब्दो के पीछे भावना भोगो में फँसाने की है ! वह आगे कहता है—मुझे तो साधु की यह वृत्ति दुःख रूप प्रतीत होती है ! इस दशा मे तुम्हे देख कर मैं दया और लज्जा से परिपूर्ण हो रहा हूँ।

चित्त मुनि ने यह सुना तो सोचा—यह तो राज्य के उन्माद मे मत्त हो रहा है। मोह की मदिरा ने इसे पागल बना दिया है। फिर चित्तजी ने कहा—इन क्षणविनश्वर एवं निस्सार सुखों को सुख मानना तुम्हारा भ्रम है। यह सुख, दुःखरूप हैं ! यह मधुलिप्त तलवार के समान हैं। जीभ पर लगाते हैं तो मीठी मालूम होती

हैं, किन्तु जरा-सी रगड़ लग जाय तो मजे का पता चल जाता है ! इन अल्पकालीन भोगो के फलस्वरूप चिरकाल पर्यन्त घोर व्यथाएँ भुगतनी पड़ती है।

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो॥

चित्तमुनि कहते है—किंपाक नामक फल होता है। देखने मे सुन्दर, खाने मे स्वादिष्ट, सूंघने मे सुगंधित और स्पर्श मे सुकोमल। मगर उसके सेवन का फल होता है मरण ! इसी प्रकार यह भोग भोगते प्रिय जान पडते है, मगर इनका फल बड़ा ही दारुण होता है। दीपक की ज्वाला को मनोज्ञ मान कर उस पर गिरने वाला पतंग प्राणो से हाथ धो बैठता है। यह भोग अनन्त जन्म-मरण के जनक है। भोग के लोभ मे मनुष्य पागल बन जाता है। भोगो के जाल मे फँसा हुआ मनुष्य कदापि चिरशान्ति नहीं पा सकता। इनमे सुख होता तो पूर्वकालीन चक्रवर्त्ती क्यो इनका त्याग करके, दीक्षित होकर, तपस्या और साधना मे लीन होते !

सज्जनो ! भर्तृहरि ने कहा है—'भोगे रोगभयम्।' जितने भोग उतने ही रोग ! डाक्टर भोगियो के पास ही खडा रहता है। आज पेचिश है तो कल पेट मे शूल है ! भोगों की दुनिया ऊपर से तो सुन्दर है, चित्ताकर्षक है, किन्तु अन्दर से दुःखप्रद है। किसी ने यथार्थ ही कहा है—

न रीझो भूल करके भी, कि बाहर की सफाई पर,
वर्क सोने के चिपकाये हैं गोबर की मिठाई पर।

भद्र पुरुषो ! इन भोगो मे भूल कर भी आसक्त न होना। जो आसक्त होते हैं, इनमे फँसते हैं, उन्हे, दुःख उठाना पड़ता है। यह भोग तो सोने के वर्क लगे लीद के गुलाबजामुन है। फिर भी मनुष्य इनके लालच मे फँस जाता है।

एक वकील साहब रिश्वतखोर थे। रिश्वत के विना किसी गरीब को भी दो अक्षर लिख देने को तैयार न होते थे। एक जाट उनकी इस आदत को भलीभाँति जानता था। उसने सोचा—मेरा मुकदमा वकील साहब के पास है। रिश्वत नहीं देता तो मुझे हरा देंगे। विना रिश्वत दिये काम चलने वाला नहीं है। उसे एक सूझ पैदा हुई। उसने मिट्टी का एक अमृतबान लिया और खूब धो कर उसे साफ किया। उसमे गोबर भर कर ऊपर सेव का मुरब्बा रख दिया। मुरब्बे पर चांदी के वर्क लगे थे। ऊपर से उसका मुँह बाँध दिया। फिर वकील साहब के पास जाकर बोला—वकील साहब, बढ़िया सेव का मुरब्बा आपकी सेवा मे लाया हूँ। वकील साहब ने थोड़ा-सा लेकर चखा तो उनकी लाली बाई रीझ गई। सोचा–चलो, एक महीने का काम तो चल ही जाएगा !

वकील साहब ने मुरब्बा अलमारी मे रख दिया और कचहरी चले गये। जाट मुकदमा जीत गया। दूसरे दिन वकील साहब ने मुरब्बे मे हाथ डाला तो नाक को दुर्गन्ध का आभास हुआ। नीचे देखा तो फैंकना ही पड़ा। वह सोचने लगे—धूर्तता करने में वकील ही सब से बढ़ कर होते है, मेरा यह ख्याल गलत साबित हुआ। मगर देख लूँगा बच्चू को ! कभी न कभी तो फँसेगा ही ! तब सारी कसर निकाल लूँगा।

एक दिन वही जाट वकील साहब को रास्ते में मिल गया। वकील साहब ने कहा—उस दिन कागजात देने में कुछ गड़बड़ हो

गई है। एक बार लाकर मुझे दिखला देना। मगर जाट ने उनका अभिप्राय समझ लिया। बोला—कागजात मे तो कुछ गड़बड़ नहीं हुई, मुरब्बे में गड़बड़ हो गई है!

वकील सिर खुजला कर सोचने लगे - यह मेरे काबू मे नहीं आ सकता। वह हार मान कर रह गये!

हाँ, तो रिश्वतखोरो का यही हाल होता है। यह भोग भी बाहर से सुन्दर दीखते है, अन्दर से तो गोबर की तरह है। यह विष हैं और गोबर से भी गये-बीते है। याद रखना, अभी नही तो फिर कभी अपना असर दिखलाएँगे। चित्त मुनि ने यथार्थ ही कहा कि यह थोड़ी देर का सुख है, किन्तु अनन्त काल का दुःख है। ससार मे जो खूनखच्चर हुआ और हो रहा है, सब का मूल कारण भोग ही है। राम-रावण का युद्ध हुआ और शिशुपाल तथा कृष्ण की लड़ाई हुई। इन सब के पीछे क्या था? जर, जोरू और जमीन के लिए ही तो सब अनर्थ होते है?

तो चित्ताजी ने वह ललकार दी कि चक्रवर्त्ती की अक्ल ठिकाने आ गई। उन्होने कहा—तू भोगो की मेरे सामने प्रशसा करता है, जो विष के समान है! आखिर भोगों का पागलपन राजा के सिर से उतर गया। उसने स्वीकार किया—बात ठीक है। भोग वास्तव मे दुखदायी है। जो चक्रवर्त्ती भोग भोगते मरता है वह नरक मे जाता है और जो राज्य तज कर संयम ग्रहण कर लेता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है!

जब तक मिथ्यात्व का उदय था, उसका जातिस्मरण ज्ञान भी विपरीत हो रहा था। वह कह रहा था कि तुम्हारा साधुपन तो मुझे दुःखरूप प्रतीत होता है! जो वृत्ति अनन्त सुख देने



निसर्गरुचि सम्यक्त्व

वीरः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितो, वीरं बुधाः संश्रिताः,
वीरेणाभिहतः स्वकर्मनिचयो, वीराय नित्यं नमः।
वीरात्तीर्थमिदं प्रवृत्तमतुल, वीरस्य घोरं तपो,
वीरे श्रीधृतिकीर्तिकान्तिनिचयः, हे वीर ! भद्रं दिश ॥

भद्र पुरुषो और धर्म बहिनो !

ज्ञानी पुरुषों ने चिरकाल पर्यन्त साधना करके जो अनुभवज्ञान प्राप्त किया, उसे संसार के प्राणियो के उद्धार के लिए उद्गारो के रूप मे बाहर प्रकट किया। उन्हीं उद्गारो के आधार पर शास्त्रो का निर्माण हुआ। वह शास्त्र प्रतिबोध देते हुए कहते है—ऐ भव्यात्माओ ! अनादि काल से तुम्हारी जो जन्म-मरण की परम्परा चली आ रही है और जो इस अथाह संसार-सागर मे जन्म-मरण की अपरिमित व्यथाओं से छटपटाते हुए गुजर रहे हो और इन जन्म-मरण की व्यथाओं से छुटकारा नहीं पा रहे हो, इसका कारण क्या है ?

संसार मे कौन जीव है जो शान्ति नहीं चाहता ? कौन है जो जन्म-मरण से नही छूटना चाहता ? सभी के जीवन के व्यापारो का एक मात्र उद्देश्य शान्ति प्राप्त करना और दुःखो से छुटकारा पाना है। मगर वह सफल क्यो नही हो रहे है ? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि जन्म-मरण का जो कारण है, उसका उन्होने परित्याग नहीं किया। जब तक कारणसामग्री बनी रहती है, तब तक कार्य भी होता रहता है।

उदाहरण के लिए नदी के प्रवाह को ही लीजिए। नदी का प्रवाह चला आ रहा है और वह हमारी आँखो के आगे से गुजर रहा है। हम देख रहे है कि पानी आया और चला गया और यह दौर निरन्तर चल रहा है। हम उसे रोकना चाहते है, पर यह नहीं जानते कि पानी के प्रवाह का क्या कारण है ? कहाँ से, कैसे और क्यो यह प्रवाह चल रहा है ? ऐसी स्थिति मे आप प्रवाह को कैसे रोक सकते है ? प्रवाह को रोकने के लिए उसका कारण खोजना पड़ेगा। पानी के प्रवाह का साधारणतया यही कारण होता है कि या तो ऊपर वर्षा हुई है, या जमीन मे से स्रोत निकल रहा है अथवा उष्णता के कारण बर्फ पिघल कर पानी की शक्ल मे प्रवाहित हो रहा है और जब तक वर्षा होती रहेगी, पानी का सोता बंद नहीं किया जाएगा और वर्फ पिघलता रहेगा, तब तक पानी प्रवाहित होता ही रहेगा। उसे रोकने के लिए उसके उद्‌गमस्थान को सँभालना और बन्द करना होगा। फिर भी इतनी बात तो अवश्य होगी कि जो पानी उद्‌गमस्थान से प्रवाहित हो चुका है, वह तो अवश्य आएगा, मगर नया पानी आना रुक जाएगा।

जन्म-मरण का प्रवाह भी पानी के अनर्गल प्रवाह के समान है, वल्कि उससे भी अधिक उग्र और प्रचण्ड एवं भयावह

है। इस प्रवाह को रोकना तो चाहा, किन्तु कारण की तरफ ध्यान नहीं दिया। इसका मूल कारण मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व रूपी कारण जब तक बना रहेगा जो जन्म-मरण रूपी पानी के प्रवाहित होने का कारण है, तब तक जन्म-मरण होते ही रहेंगे। हाँ जिस आत्मा का मिथ्यात्व अवरुद्ध हो गया और एक बार रुक गया, समझ लीजिए कि उसके लिए देशोन अर्धपुद्गलपरावर्त्तन संसार ही अवशेष रह गया। अलबत्ता जो पानी चल चुका है—जो भवपरम्परा बँध चुकी है, उसे तो भोगना ही पड़ता है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जिसके मिथ्यात्व का स्रोत बंद हो गया, उसके संसार की वृद्धि का कारण तो रुक गया, किन्तु जितने भव उसे करने हैं, उन्हे पूर्ण तो करना ही होगा। इसी कारण मिथ्यात्व को भवभ्रमण का कारण कहा गया है। यही पहला गुणस्थान है जिसका छूटना कठिन है। जिसने एक बार भी इस गुणस्थान का परित्याग कर दिया, वह आत्मा अवश्य मोक्ष का अधिकारी हो गया।

ससार मे जितने भी प्राणी हैं, उनकी कोई न कोई दृष्टि है, मान्यता है। शास्त्रकारो ने मुख्य रूप से तीन दृष्टियाॅ बतलाई है, चौथी दृष्टि नही है। इन्हीं तीन दृष्टियो मे सब प्राणियो का समावेश हो जाता है। वह इस प्रकार हैं—(१) सम्यग्दृष्टि (२) मिथ्यादृष्टि और (३) मिश्रदृष्टि।

प्रथम सम्यग्दृष्टि है जो सब प्राणियों को प्राप्त नहीं होती, किसी-किसी को ही प्राप्त होती है। फिर भी सम्यग्दृष्टि अनन्त हैं, किन्तु मनुष्य सम्यग्दृष्टि संख्यात ही है, जो संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, क्योंकि इनका धड़ा ही सख्यात का है। उत्कृष्ट मनुष्य-सख्या २९ अक प्रमाण होती है और जघन्य भी।

शका की जा सकती है कि यह क्या मामला है ? जब अधिक से अधिक अनुष्य संख्या २६ अंकपरिमित है और कम से से कम भी, तो दोनो में अन्तर क्या रहा ? फिर इसका उत्तर यह है कि आंकड़े-आकड़े मे फर्क होता है। एक तो २६ दफा एके की संख्या लिखी और दूसरी २६ नौ के अक की सख्या लिखी। तो अको की सख्या मे तो अन्तर नहीं रहा—अंक तो दोनो जगह २६ ही रहे, फिर भी दोनो सख्याओ मे बड़ा अन्तर रहेगा। इस प्रकार जघन्य मनुष्य होते है २९ एको की संख्या से और उत्कृष्ट मनुष्य होते है २६ नौ की सख्या से और बीच मे २-३-४-५ आदि अको से मध्यम मनुष्य सख्या होती है। उत्कृष्ट बादर अग्निकाय और उत्कृष्ट मनुष्यो की सख्या भगवान् अजितनाथ के समय मे मानी जाती है। क्योकि जब मनुष्यो की सख्या ज्यादा होती है तो अग्नि भी उतनी ही ज्यादा होती है।

इस प्रकार सज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य, जो सम्यग्दृष्टि है, वे सख्यात है और तिर्यंच सम्यग्दृष्टि असख्यात है। नारक और देव सम्यग्दृष्टि भी असख्यात—असख्यात है। किन्तु पंचम गति (सिद्धिगति) के जीवो को इनमे मिला देने से सम्यग्दृष्टि जीव अनन्त हो जाते है, क्योकि सिद्ध जीव अनन्त है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अनन्त है और मिथ्यादृष्टि भी अनन्त है।

मिश्रदृष्टि वाले जीव असख्यात है। असंज्ञी जीव मिश्रदृष्टि वाले नहीं होते। मिश्रदृष्टि वाले का विचार मिथ्यात्व की तरफ भी जा सकता है और सम्यक्त्व को तरफ भी जा सकता है। इस प्रकार मिश्रदृष्टि वाले जीव सब से कम है। सम्यग्दृष्टि उनसे अनन्तगुणा अधिक है और मिथ्यादृष्टि उनसे भी अनन्तगुणा अधिक है। इसका कारण यह है कि सज्ञी जीवो को ही मिश्रदृष्टि होती है

और संज्ञी जीव असंख्यात ही है। सिद्ध संज्ञी जीवो से अनन्त-गुणा अधिक है और मिथ्यादृष्टि एकेन्द्रिय जीव भी होते हैं और उनकी संख्या अनन्त है और सिद्ध जीवों से भी अनन्तगुण अधिक है। इसलिए मिश्रदृष्टि सब से कम, सम्यग्दृष्टि अनन्तगुण अधिक और मिथ्यादृष्टि उनसे भी अनन्तगुणा अधिक हैं।

जड़ पदार्थ मे कोई दृष्टि नहीं होती, क्योकि दृष्टि एक प्रकार की चेतना है, उपयोग है। चेतना या उपयोग चेतन-जीव का स्वभाव है, जड़ का नहीं।

ज्ञानी जनों का कथन है कि संसार मे यदि कोई सब से बडा घर है तो मिथ्यात्व का है। अतएव यदि आप लोगो ने सम्यक्त्व को समझ लिया, मिथ्यात्व को समझ लिया और दोनों को समझ कर मिथ्यात्व को छोड़ दिया तो समझ लीजिए कि सभी कुछ समझ लिया ! अगर मिथ्यात्व का परित्याग न किया तो आपकी तपस्या, व्रत, नियम और पौषध आदि जितनी भी क्रियाएँ है, वे सब द्रव्यक्रियाएँ है। वे भावक्रियाएँ नहीं। क्रियाओं का मूल्य केवल सम्यग्दृष्टि ही आक सकता है और वही उनका वास्तविक लाभ भी उठा सकता है।

कल बतलाया गया था कि सम्यक्त्व दस प्रकार के हैं। यद्यपि सम्यक्त्व या शुद्ध विचार एक ही है, किन्तु उसे प्राप्त करने के तरीके भिन्न-भिन्न हैं। शास्त्रकारों ने उसका वर्गीकरण करके दस विभागो मे बाँटा है। उन दस भेदों में पहला निसर्गरुचि सम्यक्त्व है जो स्वभावतः अन्तरंग से उत्पन्न होता है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव ।
एवामेव नन्नह त्ति य स निसग्गरुइ त्ति नायव्वो ॥

निसर्गरुचि सम्यक्त्व की पहचान क्या है ? जिनेन्द्र देव ने भावो को, पदार्थों को, केवलज्ञान और केवलदर्शन से हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष रूप से जाना और देखा है । उनके लिए कोई भी वस्तु परोक्ष नही है । शास्त्रो में दो प्रकार का ज्ञान वर्णित है—प्रत्यक्ष और परोक्ष । अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष मे भी नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योकि इन ज्ञानो में इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता नहीं है । वे सीधे आत्मा से ही उत्पन्न होते है । इन तीन ज्ञानो में अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते है और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है । अतएव केवलज्ञानी से कोई भी बात छिपी नही है । (केवलज्ञानियो को मालूम है कि अभी व्याख्यान मे कौन-कौन नींद ले रहे है और कौन-कौन मनोयोगपूर्वक व्याख्यान सुन रहे है ।) केवलियों ने नौ तत्त्वो के भाव देखे है और वे देख रहे है, अतएव केवलियो की दृष्टि चतुर्मुखी है । वे तत्त्वो को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार प्रकार से देखते है । इन्ही चार प्रकारो से वस्तु के विकास का चित्र ठीक तरह से चित्रित होता है । उदाहरणार्थ— केवली भगवान् जीव द्रव्य को जीव द्रव्य जानते हैं । वे यह भी जानते हैं कि जीवद्रव्य का क्षेत्र लोक है, लोक से बाहर जीव नही रहते । जीवद्रव्य का काल तीनो काल है । किसी भी काल मे जीव का अभाव नही है—जीव कदापि अजीव नहीं होता । जहाँ दूसरो ने जीव को क्षणिक-क्षण भर मे नष्ट होने वाला और उत्पन्न होने वाला माना है, वहाँ केवलियो ने जीव को 'सव्वद्धा' अर्थात् त्रिकालस्थायी कहा है । इसी प्रकार जीव का भाव ज्ञानपर्याय एवं

दर्शनपर्याय है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग जीव का स्वभाव है। जिस पर जीव का अस्तित्व टिका है वही जीव का भाव है।

भाव के विना काम नही चल सकता। बाजार मे किसी वस्तु की तेजी-मन्दी भाव पर टिकी हुई है। भाव ऊँचा-नीचा हो जाता है तो बाजार मे उथलपुथल मच जाती है। कइयो को नफा और कइयों को नुकसान उठाना पड़ता है। कई डूब जाते है और कई मालामाल हो जाते हैं। किन्तु यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ भाव ऊँचा होने पर नफा ही नफा है, टोटे या घाटे का काम नहीं। एक के लाभ मे दूसरे की हानि नहीं है। धर्म की तरफ भाव चढ़ जाते है तो पाप की तरफ से हट जाते हैं। दोनो बातो मे नफा ही नफा है।

हाँ, तो ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि जीव का लक्षण उपयोग है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव है। चारो का विचार करने से वस्तु का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

श्रावक का भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। उसका द्रव्य भव्यपन, क्षेत्र है त्रसनालिका और काल है यावज्जीवन। श्रावक अगर अधिक से अधिक प्रत्याख्यान कर सकता है तो जीवन पर्यन्त के लिए ही कर सकता है। वह अगले जन्म का ठेका नहीं ले सकता। श्रावक का भाव है ग्यारह प्रकृतियो का क्षयोपशम करना—अनन्तानुबंधीचतुष्टय, अप्रत्याख्यानीचतुष्टय और दर्शन-मोह की तीन प्रकृतियों का क्षयोपशम करने पर श्रावकपन आता है। इस प्रकार पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए ज्ञानियो ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का निरूपण किया है।

अथवा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-इन चार निक्षेपो से भी वस्तु का विवेचन किया जाता है। शास्त्रो मे सात नयो, चार प्रमाणो और निक्षेपों से किसी भी पदार्थ का विस्तृत निरूपण किया जाता है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि चार निक्षेपों को भी समझना चाहिए। आज कई लोग इनमे उलझे हुए है। लोकव्यवहार की सुविधा के लिए किसी का नाम महावीर रख दिया गया। तो वह नाम का महावीर है,काम का महावीर नहीं। यह नाम निक्षेप कहलाता है। इसी तरह किसी सोना, चांदी, पीतल आदि धातु में कोई आकृति स्थापित कर दी और उसका नाम महावीर रख दिया यह स्थापनानिक्षेप है। स्थापनानिक्षेप मे असली वस्तु के गुण नही होते। महावीर की स्थापना मे उनके गुण, उनकी विशेषताएँ, चौतीस अतिशय, पैंतीस प्रकार के वचनातिशय, केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुण विद्यमान नहीं रहते। उसमे चौदह गुणस्थानो मे से कोई गुणस्थान, वारह उपयोगो मे से कोई उपयोग, पाँच प्रकार के सम्यक्त्वो मे से कोई सम्यक्त्व या पाँच चारित्रों मे से कोई चारित्र विद्यमान है? इनमे से कोई भी चीज उसमे नहीं है।

मै एक जगह ठहरा था कि मुझे एक भिक्षु मिल गये। मूर्ति के संबंध मे बात चली तो वे कहने लगे कि साक्षात् भगवान् है। तब मैने उनसे पूछा—भगवान् में कितने गुणस्थान होते हैं और मूर्त्ति मे कितने गुणस्थान है? तब वह वोले इसमे भी कहीं गुणस्थान होते है! मैंने कहा—हमारे भगवान् जब शरीरधारी होते है तो उनमे तेरहवाँ चौदहवाँ गुणस्थान होता है, परन्तु यहाँ तो पहला गुणस्थान भी सदिग्ध है! अगर वह पूर्णरूपेण अचित्त

हो गई हो तो प्रथम गुणस्थान भी संभव नहीं है। तो हमारे भगवान् तो बड़े उच्चकोटि के है ! आशय यह है कि स्थापनानिक्षेप मे महज किसी की कल्पना ही होती है, उसकी असलियत नहीं होती है।

भावनिक्षेप के कारण को, अर्थात् जो भविष्य मे भावनिक्षेप को प्राप्त करने वाला हो उसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं। उदाहरणार्थ—महावीर स्वामी ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन कर लिया—तीर्थंकर नामकर्म बाँध लिया। वे जब देवलोक मे थे, किन्तु जब तक केवलज्ञानी नहीं हुए थे, तीर्थ की प्रवृत्ति नहीं की थी, तब तक वह द्रव्यनिक्षेप मे थे—द्रव्यतीर्थंकर थे। द्रव्य निक्षेप एक प्रकार से मेटर है, मसाला है, बिल्डिग नहीं है। हाँ, वह मसाला ही बिल्डिग का रूप धारण करने वाला है। मगर जब तक उस मसाले ने मकान का रूप धारण नहीं किया, तब तक वह इच्छित कार्य का साधक नहीं हो सकता।

भद्र पुरुषो ! भगवान् महावीर की जो आत्मा है, उसने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन कर लिया, किन्तु जब तक केवलज्ञान नहीं पाया, तब तक वह द्रव्य तीर्थंकर ही कहलाएँगे। केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना करने पर ही वह भावतीर्थंकर हुए। यह बात गभीरता से विचारने योग्य है। भ० महावीर की आत्मा जब गृहस्थावस्था मे थी, तब भी उन्हे मति श्रुत और अवधि—यह तीन ज्ञान प्राप्त थे। वे विशिष्ट ज्ञानी थे, चरमशरीरी थे, किन्तु याद रखिए, किन्तु जब तक साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका ने उन्हे वन्दन नहीं किया। कहीं भी वन्दन करने का उल्लेख आपको नहीं मिलेगा। कहने वाले कहते हैं कि देवो ने तो उन्हें वन्दन किया था। यह मै भी स्वीकार करता हूँ, क्योकि सत्य को

स्वीकार करना प्रत्येक का परम कर्त्तव्य है। सत्य को असत्य और असत्य को सत्य मानना न्यायसंगत नही और सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं मानता है। अच्छी बात को अच्छी न मानना मतान्धता है। मध्यस्थभाव वाला मनुष्य सदैव यह सोचता है कि जो सत्य है, वह हमारा है।

सज्जनो! हम सत्य के पुजारी है, फिर वह सत्य चाहे किसी के पास क्यो न हो। सत्य सर्वव्यापी तत्त्व है और उस पर सबका समान अधिकार है। सत्यप्रियता मे हठाग्रह को कोई स्थान प्राप्त नही है। तो मै स्वीकार करता हूँ कि देवों ने गृहस्थावस्था मे भी उन्हे वन्दन किया था और देवता वन्दन कर सकते हैं, परन्तु साधु साध्वी श्रावक और श्राविका उन्हे तब तक वन्दन नहीं करते, जब तक वे त्यागी न हो जाएँ। क्योकि साधु-साध्वी मे कम से कम छठा और श्रावक-श्राविका मे पाँचवाँ गुणस्थान होता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, अगर विरत न हो तो उसे चौथा गुणस्थान ही होता है। पाँचवें गुणस्थान वाले छठे गुणस्थान वाले को नमस्कार करते है, चौथे गुणस्थान वाले को नहीं।

चौथे गुणस्थान मे केवल सम्यग्दृष्टि होती है। पाँचवे मे सम्यग्दृष्टि भी है और देशविरति भी है। जीव तीन प्रकार के बतलाये गये है—चारित्री, अचारित्री और चारित्राचारित्री, या संयत, असयत और सयतासंयत। साधु संयत है, जो किसी भी व्रत का पालन नही करता वह असयत है और एक देश चारित्र का पालन करने वाले संयतासयत है। इसी प्रकार प्रत्याख्यान को लेकर भी तीन भेद होते है।

पाँचवाँ गुणस्थान एक प्रकार से कमजोरी का गुणस्थान है। शास्त्रो मे वर्णन आता है कि—कहीं तीर्थङ्कर भगवान् पधारे या कोई मुनिराज पधारे। उन्होने धर्मदेशना दी। उसमे साधुधर्म और श्रावकधर्म बतलाया। उसके पश्चात् कोई श्रोता भव से विरक्त हुआ और समर्थ हुआ तो उसने साधुदीक्षा अंगीकार कर ली। किन्तु जो साधुदीक्षा अंगीकार करने मे असमर्थ थे, उन्होंने निवेदन किया—'जो साधुधर्म धारण कर सके, वे धन्य हैं, किन्तु मैं साधुधर्म के भार को वहन नहीं कर सकता, इसलिए श्रावकधर्म ग्रहण करना चाहता हूँ।' इस प्रकार के कथन से स्पष्ट है कि यह शब्द उसकी दुर्बलता के द्योतक है। इसी कारण इस पाँचवे गुणस्थान को कायरता का सूचक कहा है। यद्यपि इन शब्दो मे श्रद्धा और प्रतीति भरी हुई है, तथापि कमजोरी भी ध्वनित होती है। तीर्थंकर भगवान् की आत्मा अत्यन्त सबल होती है, अतएव वे कमजोरी के गुणस्थान मे न जाकर लम्बी छलांग मारते हैं। चौथे गुणस्थान से सीधे छठे मे पदार्पण करते है। जब वे व्यापार करते हैं तो पूरा करते है। वे फुटकर का धंधा नही करते, 'होलसेल' के व्यापारी होते है।

आशय यह है कि गृहस्थावस्था मे तीर्थंकर चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती होते है। वे देशप्रत्याख्यानी न बन कर सर्वप्रत्याख्यानी ही बनते हैं। वह दुकान ही क्या जिस पर जाकर ग्राहक ने कहा—अमुक चीज है? और दुकानदार उत्तर देता है—नहीं। अच्छा वह चीज है? फिर जवाब मिला—नहीं साहब, वह भी नहीं है! भगवान् तीर्थंकर की दुकान ऐसी नहीं है। वह तभी खुलती है जब सब माल का संग्रह हो जाता है। यो उनका जीवन बड़ा मँजा हुआ होता है, मर्यादित होता है और अस्तव्यस्त नहीं

होता। वह बहुत सधा हुआ जीवन होता है, स्वाभाविक होता है, परन्तु उनके कोई प्रत्याख्यान नही होता।

तो देवता उनको नमस्कार करते है, क्योंकि देवो का गुण-स्थान उनसे ऊँचा नही है। सम्यग्दृष्टि देवो को भी चौथा गुणस्थान ही होता है। प्रत्येक अपने से अधिक गुण वाले को नमस्कार करता है। जैसे साधु, विशिष्ट गुण वाले साधु को नमस्कार करता है, उसी प्रकार श्रावक, श्रावक को वन्दन कर सकता है। परन्तु साधु, श्रावक को वन्दन नही कर सकता, क्योंकि साधु का छठा गुणस्थान है और श्रावक का पाँचवाँ गुणस्थान है। साधु के त्याग का सिंहासन ऊँचा है।

भद्र पुरुषो! इस विवेचन से आप समझ सकते हैं कि जब द्रव्यतीर्थ कर को भी साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका नमस्कार नही करते, जो उसी शरीर से कर्मों का क्षय करके, केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करके मोक्ष मे जाने वाले है, जिनकी आत्मा निखरी हुई है, उज्ज्वल है, तो फिर वे स्थापना तीर्थंकर को किस प्रकार नमस्कार कर सकते है? आपके दिमाग मे यह बात आती है या नहीं?

मगर आपकी आज क्या स्थिति है? आप तो बहुरूपिये के समान है। आपका कोई सिद्धान्त निर्धारित नही है। आप तो जहाँ गये वहीं के हो रहे! बालाजी मिलें या भैरूजी मिले, सब आपके लिए एक-से है! किन्तु याद रखना चाहिए कि समकित का स्थान बहुत ऊँचा है। आसन बिछाकर 'णमोअरिहंताण' कह लेने मात्र से काम सिद्ध होने वाला नहीं। जब तक सच्ची श्रद्धा नहीं, तब तक कुछ नहीं होने जाने का। हाँ, यह बात अवश्य है

कि वार-वार सुनते सुनाते रहने से कभी न कभी तो जागृति आएगी ही। कठोर पत्थर पर कोमल रस्सी के वार-वार घिसने से भी निशान बन जाता है-वह पत्थर भी घिसने लगता है। इसी प्रकार किसी वस्तु पर वार-वार श्रवण-मनन आदि करने से श्रद्धा-भावना आ सकती है।

हाँ, तो गृहस्थदशा मे भगवान् महावीर द्रव्यनिक्षेप में थे और जब उन्होंने चारित्रधर्म अंगीकार किया और साढ़े बारह वर्ष पर्यन्त कर्मों से संघर्ष किया, केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर लिया, तब वे भाव महावीर भगवान् बने।

श्रीमद् अनुयोगद्वारा सूत्र मे चार निक्षेपो का विस्तार से वर्णन आता है। निक्षेपो के वर्णन का निष्कर्ष यह है कि—'तिणि अवत्थु, एगोवत्थु' अर्थात् चार निक्षेपो मे से तीन अवस्तु रूप हैं और एक वस्तु रूप है। तीन अवन्दनीय और एक भावनिक्षेप वन्दनीय एवं अर्चनीय है!

भद्र पुरुषो! आप किधर जा रहे है? और हमारी यह बहिनें अठाई और सोलह-सोलह की तपस्या करती है, किन्तु मिथ्यात्व का पोषण पहले करती हैं। बाद मे बचे-खुचे समय में गुरुजी का नम्बर आता है। याद रखिए, अगर आपकी आत्मा में सम्यक्त्व नहीं है तो तुम्हारा कायक्लेश करना काया का शोषण करना और शरीर को दंड देना आदि सब व्यर्थ है। मै तुम्हें श्रद्धा की दृढ़ता के लिए कह रहा हूँ। जो बहिनें तपस्या करती हैं; उन्हें आडम्बर की आवश्यकता नहीं, वरन् सम्यक्त्व की रक्षा की आवश्यकता है। इतना जोर लगाने पर भी यदि मिथ्यात्व का

पोषण किया और समकित का आलोक न पाया तो तुम्हारी क्रिया लाभ के बदले हानि का कारण बन जाएगी। आगे-पीछे तो मिथ्यात्व का पोषण करती हो या नहीं, किन्तु अठाई आदि के समय प्रायः आडम्बर करती हो और इधर-उधर घूम कर मत्था रगड़ती हो ! तुम दुनिया की तरफ मत देखो किन्तु आत्मा की तरफ देखो। प्रदर्शन करते-करते तो अनन्त काल गुजर चुका है।

तप ऐसा होना चाहिए कि किसी को पता तक न चले। धन को आप छिपा कर रखती हो, गुप्त रखती हो अथवा गाजे-बाजे के साथ लोगो को दिखलाती फिरती हो ? यह तपस्यारूपी धन तो भौतिक धन से महान् है। इसे तो खूब गोपन करके रखना चाहिए। इसके लिए आडम्बर की आवश्यकता नहीं। बहिनो ! भलीभाँति समझ लो कि जीवन की किसी भी क्रिया मे मिथ्यात्व का स्पर्श नहीं होना चाहिए। प्रायः बहिने ही अधिक तपस्या करती हैं और वही मिथ्यात्व के सेवन मे आगे रहती है। इसी कारण विशेष रूप से उन्हे सावधान किया गया है। मेरी बातो को हृदय मे स्थान दो। यदि गुरु श्रद्धा है तो मानो। हजार बात की एक बात यह समझ लो कि तपस्या करने वाली बहिनें साधु-साध्वियो के दर्शन कर सकती है, किन्तु जहाँ जाने से मिथ्यात्व का पोषण हो, वहाँ भटकने की आवश्यकता नही है। मै आशा करता हूँ कि आप आयंदा ढोल बजा कर किसी देवी-देवता के आगे नहीं जाएँगी। जिस व्यापार मे टोटा हो, वह न करना चाहिए।

तो मै समकित के विषय मे कहने जा रहा था। समकित ऐसी चीज है कि इसमें श्रम तो थोडा है, मगर लाभ अधिक है। दो आदमी पानी निकालने के लिए पहाड़ के पास गये। एक

आदमी पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर पानी निकालने के लिए वहाँ पत्थर खोदने लगा और दूसरा पहाड़ की तलहटी मे खोदने लगा। इन दोनो मे जो चोटी तोड कर पानी निकालना चाहता है, उसे परिश्रम अधिक होगा, उसका समय और धन भी अधिक नष्ट होगा। फिर भी शायद पानी निकले अथवा न भी निकले। किन्तु जो निचाई मे खोद रहा है, उसे परिश्रम, समय और धन कम लगेगा और पानी की प्राप्ति जल्दी होगी। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि ज्यादा से ज्यादा तप करेगा तो भी उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी और सम्यक्त्वी को हो जाएगी। सम्यक्त्व आत्मा को जल्दी लक्ष्य पर पहुँचा देता है। इसलिए शास्त्रो मे आया है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से, नाम स्थापना द्रव्य और भाव से, जिन-जिन ज्ञेय, हेय एवं उपादेय पदार्थों को जिस-जिस रूप मे ज्ञानियों ने देखा है, उन पर उसी रूप मे श्रद्धा रखना, विश्वास लाना सम्यक्त्व है और जब यह श्रद्धा स्वयमेव अर्थात् गुरु के ज्ञान के बिना ही उत्पन्न होती है, तो उसे निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहते हैं।

मनुष्य को जब तक सम्यक्त्व का लाभ नहीं होगा, तब तक वह खरी-खोटी वस्तु का निर्णय नहीं कर सकता। मैं आपको कितना ही क्यो न समझाऊँ, किन्तु आपमे यदि निर्णयबुद्धि होगी तभी आप तथ्य-अतथ्य का निर्णय करने मे समर्थ हो सकेंगे। इस विषय में एक उदाहरण लीजिए—

एक सेठ का लाडला लड़का था। वह इकलौता लड़का था, अतएव सब को बहुत प्रिय था। खूब लाड-प्यार मे उसका पालन-पोषण हुआ। मगर अति सर्वत्र हानिकर होती है। अति लाड करना भी दुःखदायी होता है। अधिक लाड़ बाल-बच्चों के

और चेला-चेलियो के संस्कार बिगाड देता है और बिगड़े हुए संस्कार प्राय: सुधरते नही है ।

लड़का गलती करता है, भूल करता है, मगर माता-पिता उसे कुछ भी नही कहते । फल यह हुआ कि उसके संस्कार बिगड़ गये और वह कुसंगति मे फँस गया । वह शराबी, वेश्यागामी और जुआरी बन गया । आप जानते है कि एक ऐब अनेक ऐबो को उत्पन्न कर देता है । पानी को थोड़ा रास्ता मिलना चाहिए, फिर वह रास्ता बना कर दूर--दूर तक फैल जाता है । अतएव विवेकवानो ने कहा है कि थोड़ी भूल हुई है तो उसकी भी उपेक्षा मत करो । या तो उसे अतिक्रम के रूप मे ही रोक दो या व्यतिक्रम के रूप मे, नही तो मामला गडबड़ मे पड जाएगा । इमारत की दीवार मे अगर कोई दरार पड़ गई है और वह उसी समय ठीक न की गई तो दीवार के गिर जाने का अदेशा है और गिर जाने पर उसे पुन. बनाना सरल नही है । नौका के छोटे-छोटे छिद्र भी नौका को ले डूबते है । अतएव छोटे छिद्र समझ कर उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

हाँ, तो वह सेठ का लड़का लाड़-प्यार मे बिगड़ गया और सातो कुव्यसनो का शिकार हो गया । माता-पिता अब बहुत रोकते, मगर वह निरंकुश हो गया था । खाने-पीने के लिए घर आता और चाण्डाल-चौकड़ी के साथ इधर-उधर भटकता फिरता था । उसे अपने कुल का भी खयाल न रहा । अपने पूर्वजो की कीर्त्ति पर कालिमा चढाने लगा ।

वह दिनोदिन बिगड़ता चला गया । जुआ खेल कर उसने बहुत--सा धन नष्ट कर दिया । जुआ खेलना बहुत बुरी बात है । किसी ने ठीक ही कहा है—

ना मुराद इस खेल की, जीत भली ना हार।
जीते तो चसका पड़े, हारे लेत उधार ॥

जुआ की हार बुरी और जीत भी भली नही। जिसे जुए का चस्का लग गया वह घर बार सभी कुछ गँवा बैठता है। पाण्डवों की तबाही का कारण क्या था? वह जुआ ही तो था जिसने सती द्रौपदी को भी दाव पर रखवा दिया था। यह सब जुए की ही कृपा का फल था।

एक वार किसी राजा के पास सात कुव्यसनी पकड़ कर लाये गये। राजा ने उनसे कहा—तुम लोग कुव्यसनों को छोड़ दो, जो तुम्हे चाहिए वह मै देने को तैयार हूँ। सब से पहले मदिरापान करने वाले से पूछा गया--तेरा रोजाना का खर्च कितना है? उसने अपना खर्च बतला दिया। राजा ने उसे रकम देकर कहा—लो, अब दारू मत पीना। फिर शिकार खेलने वाले को, वेश्यागमन करने वाले को, परस्त्रीगामी को, चोरी करने वाले को और मांस खाने वाले को बुलाया और सब को सन्तुष्ट कर दिया गया। अन्त मे जुआरी को बुलाया गया और पूछा गया—तेरा दैनिक खर्च क्या है? उसने कहा—'महाराज, मेरा तो बड़ा कारबार है। क्या पूछते है आप! आपको रानी, आपका राजपाट वगैरह सब मेरे लिए एक दाव पर भी कम हैं।'

एक जुआरी घर-द्वार गँवा कर और एक बोदा-सा घोड़ा लेकर परदेश चला गया। कुछ दिनो तक तो वह पास की बची खुची वस्तुएँ बेच-बेच कर खाता रहा और स्त्री को भी कुछ भेजता रहा, किन्तु बाद में भूखा मरने लगा। स्त्री को भी भेजना बद कर दिया। तब उसकी पत्नी ने उसे एक पत्र लिखा। मगर पत्नी को

अपने पति का पता ज्ञात न था। बेचारी पत्र भेजती तो कैसे भेजती ? किन्तु जिस गॉव मे उसका पति रहता था, वहाँ उस गाँव का एक आदमी जाने को तैयार हुआ। उसने जुआरी की पत्नी से पूछा—मै जा रहा हूँ, कोई संदेश देना हो तो कह दो। तब उसने वह पत्र उसे दे दिया और उसका उत्तर लेते आने को कह दिया। वह आदमी वहाँ पहुँचा। उससे मिला और पत्र दे दिया। उसने पत्र खोल कर पढ़ा तो उसमे लिखा था—

चरखा बेचा पूणी बेची, तिलक धरा नौ आणे को।
उस भडुवे से यूं जा कहियो, खरचा भेजे खाणे को ॥

पत्र मे लिखा था कि मैंने तुम्हारे जाने के बाद चर्खा आदि कई चीजें बेच डाली है और अब मेरे पास खाने को कुछ नही है। कुछ रुपया भेज देना।

पत्रवाहक जब वापिस लौटने लगा तो उसने जुआरी से कहा—उत्तर लिखा हो तो दे दो। मै जा रहा हूँ। तब जुआरी ने पत्र लिखा और उसे दे दिया। वह आदमी लौट कर अपने गाँव आया और पत्र यथास्थान पहुँचा दिया। स्त्री ने उत्कंठा के साथ पत्र खोला। समझा, शायद चैक भेजा होगा। मगर खोल कर देखा तो उस बंदे ने लिखा था—

घोड़ा बेचा जोडा बेचा, अंगरखा गिरवे रखता हूँ।
भड़वी से यूं जाकर कहियो, खुद ही भूखा मरता हूँ ॥

सज्जनो ! जुआरी की ऐसी दुर्दशा होती है। यह बड़ी विडम्बना है। एक दुर्व्यसन लगने पर अनेक दुर्व्यसन लग जाते है।

एक भिक्षुक प्रातःकाल गाँव से बाहर जंगल जा रहे थे। उसी ओर से एक मनुष्य निकला। उसके कंधे पर जाल था। भिक्षुक को अंधेरे के कारण साफ दिखाई न दिया, अतः उस आदमी से पूछा—तुम्हारे कंधे पर यह क्या है ? उसने फौरन उत्तर दिया—बाबाजी, यह तो जाल है। बाबाजी बोले—राम-राम ! प्रातःकाल का समय है। इस ब्रह्ममुहूर्त्त में तुम्हें परमात्मा का नाम लेना चाहिए, मगर यह किसलिए ले जा रहे हो ? तब वह बोला—यह मछलियाँ पकड़ने के लिए है। तब महात्मा बोले—अरे भद्र पुरुष ! यह सुबह का अमूल्य समय है। इस समय में परमात्मा का नाम लेने के बदले तुम जीवों की घात करते हो और अपनी आत्मा को पतन की ओर ले जाते हो ! तुम ऐसा पाप क्यों करते हो ?

उसने उत्तर दिया—महाराज, मैं प्रतिदिन मछलियाँ नहीं मारता। जब मांस खाने की इच्छा होती है, तभी शिकार करता हूँ।

महात्मा—मैं तो समझा था कि तुम्हें मछलियाँ पकड़ने का ही दुर्व्यसन है, मगर तुम मांस भी खाते हो। यह तो अभक्ष्य पदार्थ है ! कैसे खाते हो ?

वह आदमी—मैं प्रतिदिन मांस नहीं खाता। जिस दिन मदिरापान कर लेता हूँ, उसी रोज खाता हूँ।

महात्मा—अरे अभागे ! मदिरा भी पीता है !

वह आदमी—प्रतिदिन नहीं महाराज, जिस दिन वेश्या के घर जाता हूँ, उसी दिन पीता हूँ।

महात्मा—आह, धर्मभ्रष्ट वेश्या की सगति करके तू क्यो अपने जीवन को नष्ट कर रहा है।

वह आदमी—मैं हमेशा वेश्यागमन नही करता। जब पराई बहू-बेटी मेरे फदे मे नहीं फँसती, तभी वेश्या के यहाँ जाता हूँ।

महात्मा—अरे अधर्मी ! तू दूसरो की बहू-बेटियो का भी धर्म लूटता है।

वह—जब चोरी का माल हाथ लग जाता है, तभी ऐसा करता हूँ।

महात्मा—पातकी, तू चोरी भी करता है ?

वह—हमेशा नहीं, जब कभी जुए मे हार जाता हूँ, तभी चोरी करता हूँ।

महात्मा—आज सुबह होते ही तेरी मंगलमूर्ति के कहाँ से दर्शन हो गये ! न जाने मेरे किस जन्म का पाप उदय मे आया कि तुझसे पाला पड़ गया।

हाँ, तो बात उस सेठ के लड़के की चल रही है। उसकी दृष्टि ही बदल गई थी। उसके जीवन मे कुसस्कार अड्डा जमा चुके थे। सेठ ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं समझा। मानसिक चिन्ता के कारण आखिर सेठ बीमार पड गया। उसके मरने की तैयारी हो गई। अन्तिम सांसे ले रहा था कि उसने अपने आदमी से कहा—'मेरे लड़के को बुला लाओ।' आदमी ने उसके पास जाकर कहा—सेठजी बुला रहे हैं। अन्तिम समय मे उनसे

एक भिक्षुक प्रातःकाल गाँव से बाहर जंगल जा रहे थे। उसी ओर से एक मनुष्य निकला। उसके कंधे पर जाल था। भिक्षुक को अंधेरे के कारण साफ दिखाई न दिया, अतः उस आदमी से पूछा–तुम्हारे कंधे पर यह क्या है? उसने फौरन उत्तर दिया—बाबाजी, यह तो जाल है। बाबाजी बोले—राम-राम! प्रातःकाल का समय है। इस ब्रह्ममुहूर्त्त में तुम्हें परमात्मा का नाम लेना चाहिए, मगर यह किसलिए ले जा रहे हो? तब वह बोला—यह मछलियाँ पकड़ने के लिए है। तब महात्मा बोले—अरे भद्र पुरुष! यह सुबह का अमूल्य समय है। इस समय में परमात्मा का नाम लेने के बदले तुम जीवों की घात करते हो और अपनी आत्मा को पतन की ओर ले जाते हो! तुम ऐसा पाप क्यों करते हो?

उसने उत्तर दिया—महाराज, मै प्रतिदिन मछलियाँ नहीं मारता। जब मांस खाने की इच्छा होती है, तभी शिकार करता हूँ।

महात्मा—मै तो समझा था कि तुम्हें मछलियाँ पकड़ने का ही दुर्व्यसन है, मगर तुम मांस भी खाते हो। यह तो अभक्ष्य पदार्थ है! कैसे खाते हो?

वह आदमी—मै प्रतिदिन मांस नहीं खाता। जिस दिन मदिरापान कर लेता हूँ, उसी रोज खाता हूँ।

महात्मा—अरे अभागे! मदिरा भी पीता है!

वह आदमी—प्रतिदिन नहीं महाराज, जिस दिन वेश्या के घर जाता हूँ, उसी दिन पीता हूँ।

महात्मा—आह, धर्मभ्रष्ट वेश्या की संगति करके तू क्यो अपने जीवन को नष्ट कर रहा है।

वह आदमी—मै हमेशा वेश्यागमन नहीं करता। जब पराई बहू-बेटी मेरे फंदे मे नहीं फँसती, तभी वेश्या के यहाँ जाता हूँ।

महात्मा—अरे अधर्मी ! तू दूसरो की बहू-बेटियो का भी धर्म लूटता है।

वह—जब चोरी का माल हाथ लग जाता है, तभी ऐसा करता हूँ।

महात्मा—पातकी, तू चोरी भी करता है ?

वह—हमेशा नही, जब कभी जुए में हार जाता हूँ, तभी चोरी करता हूँ।

महात्मा—आज सुबह होते ही तेरी मगलमूर्ति के कहाँ से दर्शन हो गये ! न जाने मेरे किस जन्म का पाप उदय में आया कि तुझसे पाला पड़ गया।

हाँ, तो बात उस सेठ के लड़के की चल रही है। उसकी दृष्टि ही बदल गई थी। उसके जीवन मे कुसस्कार अड्डा जमा चुके थे। सेठ ने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं समझा। मानसिक चिन्ता के कारण आखिर सेठ बीमार पड़ गया। उसके मरने की तैयारी हो गई। अन्तिम सासे ले रहा था कि उसने अपने आदमी से कहा—'मेरे लड़के को बुला लाओ।' आदमी ने उसके पास जाकर कहा—सेठजी बुला रहे है। अन्तिम समय में उनसे

मिल लो। पहले तो उसने आनाकानी की, परन्तु बहुत कुछ कहने सुनने पर वह पिता के पास आया और बोला—पिताजी, आप जा रहे हो? अच्छी तरह जाना। सेठ ने कहा—हाँ, मैं जा रहा हूँ, मगर आखिरी समय की मेरी एक हिदायत ध्यान मे रखना। यह चार जवाहरात के डिब्बे है। इन्हे सँभाल कर रखना और जब कभी हालत खराब हो जाय तो इन्हे लेकर अपने मामा के पास चले जाना।

माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति कैसी सद्भावना होती है! कितनी ममता होती है! वे मरते-मरते भी संतान के जीवन को बनाना और सुखी करना चाहते है। सेठ से कहा—बेटा, इनमे हीरे, पन्ने, माणिक और मोती भरे हैं।

वह तो सेठ का ही भाग्य था कि घर मे लक्ष्मी अठखेलियाँ करती थी। वह परलोक सिधारे तो लक्ष्मी भी खिसकने लगी। थोड़े ही दिनो मे उस लड़के की हालत खराब हो गई। तब चारो डिब्बे लेकर वह मामा के पास पहुँचा। चारो डिब्बे अपने मामा को देते हुए उसने कहा—आप इन्हे सँभाल कर रख लीजिए। मुझे आवश्यकता होगी तो मैं ले लूँगा। किन्तु सेठ ने मामा से पहले ही सब कुछ कह रक्खा था, अतः उसने उत्तर दिया—मैं इन्हे नहीं रक्खूँगा। तुम ही इन्हे सँभाल कर रक्खो और अपनी दुकान पर काम सीखो।

लडका जवाहरात का काम सीखने लगा। वह उनकी परीक्षा मे होशियार हो गया। एक दिन उसके मामा ने उससे कहा—जवाहरात मे तेजी आ रही है। अपने डिब्बे ले आओ। इस समय उन्हे बेचने से बहुत लाभ होगा।

लड़का डिब्बे लाया। उन्हे खोल कर देखा तो उसे पहचानते देर न लगी कि यह सब तो नकली है—इमीटेशन के जवाहरात है। मामा ने कहा—तुम्हारे पिताजी असली जवाहरात के व्यापारी थे। अतः यह नकली नहीं हो सकते। असली ही होने चाहिए। शायद तुम भूल रहे हो। मामा के ऐसा कहने पर भी लड़के ने कहा—मामाजी, आँखें मुझे धोखा नहीं दे सकती। पहले मुझे असली-नकली का ज्ञान नहीं था। किन्तु आपकी कृपा से अब मैं अच्छी तरह परख सकता हूँ। यह निस्सन्देह नकली है।

मामा को तो पहले ही पता था कि यह सब नकली है। मगर उस समय वह उन्हे नकली कह देता तो लड़का समझता कि मामाजी इन्हे हड़प लेना चाहते हैं। इसीलिए ऐसा कह रहे है!

भाइयो! इस लड़के को खोटे जवाहरात का ज्ञान कब हुआ? जब उसने असली का ज्ञान कर लिया। इसी प्रकार जब जीव को समकित रूपी असली जवाहरात की जानकारी हो जाती है, तब मिथ्यात्व रूपी नकली जवाहरात को पहचानते देर नही लगती और न उसे छोड़ने मे देर लगती है। मगर ऐसा करने के लिए जौहरी की संगति करनी पड़ती है। इसलिए मै कहता हूँ कि मिथ्यात्व को त्यागो और सम्यक्त्व को समझो। जो सम्यक्त्व को समझेंगे और अगीकार करेंगे, वे संसार-सागर से पार हो जाएँगे, अक्षय सुख के भागी बनेंगे और समस्त दुःखों से मुक्त होगे।

ब्यावर
७-८-५६



उपदेशरुचि

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः, सिद्धाश्च सिद्धिस्थिताः,
आचार्या जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं, कुर्वन्तु नो मङ्गलम्॥

भद्र पुरुषो और धर्मबहिनो !

दस प्रकार के सम्यक्त्व का प्रकरण चल रहा है। दस कारणो से या दस निमित्तों से जीव को सम्यक्त्व का लाभ होता है। इन निमित्तो के नाम पर ही सम्यक्त्व के नाम रख दिये गये है। अर्थात् सम्यक्त्व एक अखण्ड तत्त्व होने पर भी निमित्तभेद से उसमे दस भेदो की कल्पना की गई है।

सम्यक्त्व का पहला रूप 'निसर्गरुचि' है। निसर्ग से अर्थात् स्वभाव से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व कहा जाता है। इसके लिए किसी आचार्य अथवा

धर्मोपदेष्टा के उपदेश की आवश्यकता नही होती। वह क्षयोपशम होने पर अपने आप ही, अन्तरंग कारणों से उत्पन्न हो जाता है। मगर इस प्रकार सम्यक्त्व की उपलब्धि करने वाले जीव संसार में थोड़े ही है, जिन्हे जातिस्मरणज्ञान या अवधिज्ञान प्राप्त होते ही सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय। जिन्होने आत्मशुद्धि की खूब तैयारी कर रक्खी है और जिनकी आत्मा भलीभाँति परिमार्जित है, ऐसे जीव बहुत कम है। ऐसे ही विरले जीवो को निसर्गरुचि सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

प्रश्न हो सकता है कि जिनका इतना आत्मशोधन नहीं हुआ है, जिन्होने इतनी करनी नहीं कर रक्खी है, उन जीवो को सम्यक्त्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए 'धर्मोपदेशरुचि' सम्यक्त्व का शास्त्रकारों ने निरूपण किया है। उपदेश सुनने की रुचि हो, इच्छा हो, चाह हो, आकांक्षा हो या तड़फ हो और उससे जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाय, वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।

जिनके अन्त.करण मे वीतराग भगवान् की वाणी सुनने की तीव्र उत्कंठा होती है, जो सोचते हैं कि मुझे कब भगवान् की वाणी सुनने का अवसर मिले, वह अवसर धन्य होगा जब मैं जिनेन्द्र देव के प्रवचन-पीयूष का पान करूँगा, वे चातक के समान होते हैं, जो मेघ के लिए तरसते रहते है। यो तो नदी, नाले, कूप बावड़ी तालाब आदि जलाशयों मे पानी भरा रहता है, किन्तु चातक के काम का वह नहीं है। ऐसी कहावत है कि जलाशयो के पानी अन्यान्य पक्षियो के लिए हैं, चातक तो मेघ द्वारा वर्षाया हुआ स्वच्छ जल ही पीता है। मेघ का पानी पाकर ही चातक तृप्त होता है। नीतिकार कहते है कि उसे वह जल न मिले तो

प्यासा रहना मंजूर है, किन्तु दूसरा पानी पीना मंजूर नहीं। उसे नदी-तालाव आदि के पानी से प्रेम नहीं है। मेघ के जल के प्रति ही उसकी प्रीति है, लगन, श्रद्धा और निष्ठा है। सच्चा प्रेम तो वही है कि एक वार जो जिसका बन जाय, फिर आजन्म उसी का बना रहे। उसी को अपनी सम्पूर्ण श्रद्धा समर्पित करदे। यही निष्ठा है, यही श्रद्धा है और सच्ची प्रीति है।

चातक के हृदय मे मेघ–जल के लिए इतनी गहरी प्रीति है कि यदि किसी शिकारी ने उसे तीर मार कर घायल कर दिया और घायल अवस्था मे वह उलटा मुँह किये नीचे की ओर चला आ रहा है, नीचे कोई सरोवर भरा है। ऐसी दशा में उसे घायल होने का दुःख नही है, दुःख और चिन्ता है तो यही कि इस सरोवर का पानी कहीं मेरे मुख मे न चला जाय। ऐसा न हो कि मेरी प्रतिज्ञा भंग हो जाय।

कितनी जवर्दस्त वात है! कैसा प्रेम और कैसी लगन है उस चातक की! उसने अपने आपको एक का वना लिया है। दूसरा जल उसे भाता नहीं, सुहाता नहीं।

इसी प्रकार मिथ्यात्व का पानी पीने वाले—नदी तालाव और सरोवर का पानी पीने वाले बहुत हैं, किन्तु वीतराग प्रभु की वाणी रूप जल को पीने वाले चातक विरले ही मिलेंगे। उस वाणी रूपी अमृत–जल की वर्षा कौन करता है? श्री उत्तराध्ययन के २३ वे अध्ययन में वताया है कि—श्रीकेसी स्वामी ने गोतम स्वामी से कहा—'ऐ गौतम! अग्नि जल रही है। उसने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है। वह आकाशगामिनी ज्वालाएँ फैला रही है। जो जीव उनके सपाटे में आता है, तत्काल ही भस्म हो

जाता है। ऐसी अग्नि मे जीव सतप्त और दग्ध हो रहे है। वह अग्नि किस प्रकार बुझ सकती है ? उस प्रचण्ड अग्नि को शान्त करने वाला पानी कौन-सा है ? उस पानी को जन्म देने वाला मेघ कौन-सा है, जिससे संतप्त जीवो को शान्ति प्राप्त हो सके ?

केशी और गौतम—दोनो मुनिराज महान् विद्वान् थे। दोनो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विराट वैभव से सम्पन्न थे। जिस समय यह चर्चा हो रही थी, उस समय गगनमण्डल देवगणो से और भूमण्डल विशाल जनसमूह से खचाखच भरा हुआ था। असाधारण विद्वान् सन्तो की चर्चा सुनने के लिए असख्य श्रोता एकत्र हुए थे ।

उस समय गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—आपने जो प्रश्न किया वह उचित ही है। मै मानता हूँ कि संसार मे प्रचण्ड अग्नि का बवंडर उठ रहा है और चारो दिशाओ मे वह फैलता जा रहा है, और उसके सपाटे मे आने वाला प्रत्येक प्राणी दग्ध हो रहा है । उस भोषण आग से बचना बहुत कठिन है। फिर भी केशी स्वामिन् ! ससार के प्राणियो को हताश, निराश और उत्साहहीन होने की बात नही है। ससार मे उस आग को शान्त करने के लिए महामेघ भी है। उन महामेघो से वृष्टि होगो, जिससे सतप्त हृदय शान्त होगे और उन्हे आश्वासन मिलेगा, राहत मिलेगी। यह ससार इसी प्रकार दग्ध होता रहे तो इसकी स्थिति रहना ही कठिन हो जाय। ये आकाशगत जो मेघ हैं, इनका पानी भी शाति देता है। मगर इनसे कही उत्तम वर्षा बरसाने वाले मेघ भी हैं। उस पानी को अगर आत्मा स्वीकार कर लेता है तो उसकी जन्म-जन्मान्तर की प्यास बुझ जाती है, वह सिद्ध, बुद्ध, परिशान्त हो जाता है।

जब मनुष्य को क्रोध आता है तो वह पागल-सा हो जाता है। यहाँ तक कि जिन माता-पिता ने उसको जन्म दिया है, अपने आराम को हराम करके पालन-पोषण किया है, उनका भी सामना करने को तैयार हो जाता है, उनका अपमान करते भी नहीं हिचकता। माता लिलिया कर कहती है—'बेटा, कुछ तो ध्यान दे। देख, बड़ी मुश्किल से तुझे पाल-पोस कर बडा किया है। मै भले ही भूखी-प्यासी रही, मगर तुझे तो समय पर कैसे भी खिलाया-पिलाया ही है। मै गीले मे सोई और तुझे सूखे मे सुलाया। सवा नौ माह तक तुझे उदर मे लिये-लिये फिरी।' इस प्रकार कहकर माता अपने पुत्र को उसके कर्तव्य का भान कराती है और आशा करती है कि यह दुर्व्यवहार नहीं करेगा। परन्तु पुण्यवान् पुत्र ही सीधा सोचता है। पुण्यहीन उद्दड पुत्र तो माता को उलटी फटकार दिखलाते हैं और मार-पीट करने पर भी उतारू हो जाते हैं। कोई-कोई निर्लज्ज अभागे तो यहाँ तक कहने मे संकोच नहीं करते कि—तुमने नौ महीने पेट मे रक्खा है तो उसका किराया ले ले!

अरे कृतघ्न, अविनीत कपूत! आज तू क्रोधावेश मे भान भूल कर माता के पेट मे रहने का किराया चुकाने की बात कहता है! अरे निर्लज्ज! सवा नो मास की बात तो छोड़, तू ने माता के उदर मे जो सांस गुजारी है, उसकी भी कीमत तू नहीं चुका सकता!

भद्र पुरुषो! क्रोध मे आकर मनुष्य क्या-क्या जुल्म नहीं करता? कई लोग तो इतने गिर जाते है और बेशर्म होकर कह बैठते है कि मुझे जन्म देकर क्या एहसान किया है! मैं तो अनायास ही पैदा हो गया हूँ। तुमने अपनी विषयवासना की पूर्ति की और मेरा जन्म हो गया। सज्जनो! क्या यही कृतज्ञता है? जिस

माता ने अपने हृदय का अनमोल प्रेम प्रदान किया, जिसने दूध के रूप मे हृदय का मधुर रस पिलाकर प्राणो की रक्षा की और जिसने पुत्र को अपने प्राणो से भी अधिक समझा, उस पुत्र के मुख से यह शब्द शोभा पाते है ? किन्तु क्रोध की स्थिति मे मनुष्य बेभान हो जाता है, मानो उसने किसी दिवालिया बैंक मे अपनी सारी अक्ल जमा करा दी हो ! क्रोधी का हृदय विचार-शून्य हो जाता है ! उसका शान्तिरस भंग हो जाता है, माथे पर सल चढ़ जाते है, आँखे लाल हो जाती है, शरीर थर-थर काँपने लगता है, हृदय सन्तप्त हो जाता है. रक्त मे तेजी आ जाती है और होशहवास गायब हो जाते है। व्यवहार मे लोग कहते है-- 'जरा ठंडे दिल से विचार करो।' इसका अभिप्राय यही है कि क्रोधाग्नि से खून खौलने लगता है। क्रोध मनुष्य को सत्वहीन बना देता है। क्रोध आने पर मस्तिष्क मे उत्तेजना उत्पन्न होती है, जिससे मनुष्य की विचार शक्ति नष्ट हो जाती है। क्रोध कषाय रूपी अग्नि का ऐसा स्वभाव और प्रभाव है।

कभी मनुष्य मान की आग से जलने लगता है। मानी मनुष्य मानता है कि इस महीमण्डल पर मुझ जैसा कोई नहीं है। मैं ही सर्वोपरि हूँ। ऐसे पुरुष का विकास रुक जाता है। दूसरो को तुच्छ समझता हुआ वह स्वयं ही तुच्छ बन जाता है। मान की आग उसकी नम्रता, विनीतता और सौजन्य आदि सद्गुणो को नष्ट कर देती है।

माया को भी आग का रूप दिया गया है। यह आग भी मनुष्य के हृदय मे भीतर ही भीतर जलती रहती है। यह भी आत्मा मे शान्ति नहीं उत्पन्न होने देती। इसको शास्त्र मे शल्य कहा है। जैसे द्रव्यशल्य-कांटा कहीं लग जाने पर चुभता रहता है,

उसी प्रकार यह माया, दगाबाजी या छल भी अन्तःकरण में सालती रहती है। अतएव माया भी कषायाग्नि का ही एक रूप है।

और लोभ को भी ज्ञानियों ने आग का रूप प्रदान किया है। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य नहीं करने योग्य कार्य कर बैठता है, जिसका परिणाम भुगतना कठिन हो जाता है। लोभ सभी पापो का बाप है। इससे आत्मा अतीव संतप्त एवं अशान्त रहती है। लोभ आत्मा को कभी शान्ति नही लेने देता।

क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय कहलाते हैं। कष का अर्थ है—संसार और आय का अर्थ है प्राप्ति-लाभ। तात्पर्य यह है कि जिस दुर्गुण-दुर्भाव की बदौलत जीव को संसार की अर्थात् जन्म-मरण की प्राप्ति होती है, उसे कषाय कहते हैं। जीव को संसार-संसरण अर्थात् परिभ्रमण क्यो होता है? इसका मुख्य कारण कषाय है। कभी यह जीव नरक की ओर सरक जाता है, कभी देवयोनि की तरफ और कभी मनुष्य या तिर्यंच योनि की तरफ सरक जाता है। आज से नहीं, अनादि काल से यह क्रम चला आ रहा है। मनुष्यभव पाकर मनुष्य को इस सबंध में विचार करना चाहिए और सँभल जाना चाहिए। न सँभले तो न जाने यह सिलसिला कब तक चलता रहेगा?

इस प्रकार गौतम स्वामी ने केशी स्वामी के प्रश्न का विशद रूप से उत्तर दिया कि कषाय रूपी अग्नि में समस्त ससार के जीव संतप्त हो रहे है। उनकी आत्मा को शान्ति नहीं मिलने पाती। किन्तु तीर्थंकर भगवान् रूपी महामेघ से जब वाणी रूपी वृष्टि होती है, तभी जीवो को शान्ति प्राप्त होती है।

सज्जनो ! आज हमे किसका आधार है ?

प्रभु की वाणी को आज अधार,
सुन सुन सफल करो अवतार।
जिनवाणी ऐसी रे जिनवाणी ऐसी,
कुमति गई ने म्हारे सुमति वसी।

आज ससार के प्राणियो को यदि किसी का आधार है तो वह जिनवाणी का है। वही भव्य जीवो को ससार-समुद्र से पार लगा सकती है। वह जिनवाणी कैसी है ?

वाणी तो घणेरी पण वीतराग तुल्य नाहीं,
इणके सिवाय और छोरो की कहानो है।

जैसे अबोध बच्चो की कहानी मे कोई सार नहीं रहता, इसी प्रकार वीतराग के अतिरिक्त–रागी द्वेषी जनो की वाणी भी तत्त्वशून्य–निस्सार होती है। यदि कोई वाणी है तो वह जिनवाणी ही है, जिसमे से कोई सार निकलने वाला है। और वही वाणी शान्ति प्रदान कर सकती है।

गर्म स्थान मे से गुजर कर आने वाली हवा भी गर्म ही होती है। इसके विपरीत जो वायु दरियाव, सरोवर आदि जलाशयो मे से गुजर कर आती है, वह शीतल होती है। इसी प्रकार जिनका हृदय कषायो से सतप्त हो रहा है, राग-द्वेष से जल रहा है, उनके मुख की वाणी भी विस्फोट करने वाली ही हो सकती है। क्योकि कुए मे जैसा पानी होगा, वैसा ही डोली में आएगा, जैसा डोली मे होगा वैसा ही लोटे मे आएगा और जैसा लोटे में

होगा वैसा ही मुख मे आएगा। और जैसा उदर में जाएगा वैसा ही असर दिखलाएगा।

तो वाणियाँ संसार मे बहुत हैं। द्वीन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी बोलते है। मगर उन सब की वाणी का कोई मूल्य नहीं है। उद्धार करने वाली वाणी तो केवल जिनेन्द्र देव की ही है, जो सभी की आत्मा को शान्ति देने वाली है। जो भगवान् वीतराग की वाणी सुनने का रसिक होता है, उसे दूसरों की मिथ्या वाणी सुनने की कदापि इच्छा नहीं होती। जैसे चातक को अपने घायल होने का उतना भय नहीं होता जितना अपनी प्रतिज्ञा के भग होने का फिक्र होता है कि कहीं नदी-नाले का पानी मुँह में न चला जाय। वह तो मेघ के पानी का ही रसिक है। तो मै कह रहा हूँ कि नदो, नाले, तालाब आदि का पानी पीने वाले तो बहुत हैं, किन्तु भगवान् की वाणी में पूर्ण आस्था रखने वाले चातक कोई विरले ही होते हैं।

मूल विषय चल रहा था उपदेशरुचि सम्यक्त्व का, अर्थात् उपदेश सुनने की रुचि होना, साधु-साध्वी मिले, भगवान् की वाणी सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो, ऐसी रुचि होना उपदेशरुचि सम्यक्त्व् है। यह उपदेशरुचि समकित की झलक है, जो इस तरफ सुनने की प्रेरणा देती है।

उपदेश भी दो प्रकार का है—मिथ्या उपदेश और सत्य उपदेश। हिंसा मे धर्म बतलाने वाले और आस्रव के काम में धर्म कहने वाले बहुत है, किन्तु ऐसे उपदेश से आत्मा का कल्याण नहीं हो सकता। उपदेश तो ऐसा होना चाहिए कि जिससे आत्मा को शान्ति मिले। कई धर्मप्रवर्त्तक कहलाने वालो ने अपने धर्म

की पोथियो मे लिख दिया—काफिरो को मिटा दो, खत्म कर दो।' और ऐसी-ऐसी खुदा की आयते पढ कर सुनाते है। किन्तु सज्जनो! जिन ग्रन्थो मे ऐसी-ऐसी बाते लिखी हैं, वे क्या धर्मग्रन्थ कहलाने योग्य है? इस प्रकार के उपदेश को क्या सदुपदेश कहा जा सकता है? धर्मग्रन्थ तो वही हो सकते है जिनमे प्राणीमात्र के प्रति समभावना व्यक्त की गई हो। कुरान की आयतो मे ही उपर्युक्त बात नही लिखी है, वरन् हिन्दू धर्मग्रन्थो मे भी कहीं-कहीं उल्लेख है कि—'हे भगवान्! मेरे शत्रुओं का–दुश्मनो का नाश कर दो।'

अरे भोले! यह काम भी तू भगवान् को ही सौंप रहा है? किन्तु याद रख, भगवान् का कोई दुश्मन नही है। मगर लोग जैसे हैं, वैसा ही उन्होने अपना भगवान् बना लिया है। जो तलवार और तीर लेकर लड़ रहे है, गोलियाँ चला रहे हैं, समझ लो कि वे वास्तव मे भगवान् नही है, शस्त्र वही रखते है जिन्हे किसी प्रकार का भय होता है। जो निर्भय है और जिसका कोई शत्रु नही है, वह क्यो शस्त्र धारण करेगा? अहिंसावादियो को शस्त्र की आवश्यकता नहीं होती।

महात्मा गांधी उस समय नोआखाली में पैदल भ्रमण कर रहे थे, जब हिन्दुओ और मुसलमानो का सघर्ष जोरो पर था। मुसलमानो का खून खौल रहा था। वे हिन्दुओ के खून से होली खेल रहे थे। उस विषम परिस्थिति मे वहाँ की सरकार ने गांधीजी से कहा—आपकी सुरक्षा के लिए पुलिस का प्रबंध कर दिया जाय ताकि आपको कोई खतरा न हो। मगर महात्माजी ने कहा–मुझे पुलिस की आवश्यकता नहीं, सरकारी सुरक्षा की जरूरत नहीं। मैं

तो सभी की भलाई के लिए वहाँ जा रहा हूँ। मेरा कोई शत्रु नहीं है। भय हिंसावादी को होता है, अहिंसावादी को नहीं। अहिंसक की आत्मा में अचिन्त्य शक्ति आ जाती है।

गांधीजी ने पुलिस की सहायता लेने से इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा–मेरी अहिंसा ही मेरी रक्षा करने वाली है। मुझे अहिंसा की शक्ति पर पूरा भरोसा है, अस्त्र-शस्त्रों पर भरोसा नहीं है। उन्होंने कहा—संसार में जो भी शस्त्रास्त्र बनाये जा रहे हैं, वे सब संसार की शान्ति को भंग करने वाले और अशान्ति की वृद्धि करने वाले हैं। शस्त्र संसार में कदापि शान्ति की प्रतिष्ठा नहीं कर सकते। शान्ति का यदि कोई साधन है, अमोघ शस्त्र है तो वह अहिंसा ही है। अहिंसा भगवती की वरप्रदायिनी छाया में भय का नामनिशान नहीं। भय तो वहीं रहता है जहाँ हिंसा की भावना है। अगर तुमने किसी को सताया है, मारा है, पीटा है, तो उसकी तरफ से तुमको हर समय भय महसूस होता रहेगा कि न मालूम कब मेरे विपक्षी मुझ पर आक्रमण कर दे। मगर जो किसी को सताता ही नहीं और सब को मित्र के रूप में देखता है, उसे भय काहे का ? वह निर्भय विचरण करता है। वह अहिंसा का ही शरण ग्रहण करता है। सचमुच अहिंसा से बढ कर संसार में कोई दूसरा शस्त्र नहीं हो सकता।

यह अहिंसा का ही प्रताप समझिए कि सैकडों वर्षों से पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए आप आज स्वाधीन हो गये हैं। अंगरेजी साम्राज्य ने भी अहिंसा के आगे घुटने टेक दिये। उसे भारत की स्वाधीनता की घोषणा करनी पड़ी।

तो मैं कह रहा था कि जिन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि 'मेरे दुश्मन का नाश कर दो' ऐसा कर दो, वैसा कर दो' वह क्या

धर्मग्रन्थ कहे जा सकते है ? भले भी उन ग्रंथो के सब से प्राचीन होने का दावा किया जाय, परन्तु वे जनता का वास्तविक कल्याण नही कर सकते । जब भगवान् का कोई दुश्मन ही नही है तो उससे ऐसे कामो के लिए प्रार्थना करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है । भगवान् सब के मित्र है और विश्व के समस्त प्राणी उनके मित्र है । अतएव जिन ग्रन्थो मे, जिन ग्रंथो की आयतो या मत्रो मे हिसा-प्रवृत्ति का उपदेश है, तो किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं, समझ लो कि वह रागी-द्वेषी की वाणी है, वीतराग की वाणी नही है । वह शान्त दान्त महात्मा के वचन नही है, वरन् क्रोधी, द्वेषी और रागी आत्मा के मलिन उद्‌गार है ।

तो मै कह रहा था कि उपदेश ऐसा होना चाहिए जिसको सुनने से आत्मा को शान्ति मिले । इसके विपरीत जिससे कषायो की वृद्धि हो और उनको उत्तेजना मिले, ऐसा उपदेश हितकारी नही हो सकता । जिस उपदेश से सिर-फुटौवल हो, लड़ाई-झगडा हो, हृदय मे दुर्भावना की वृद्धि हो, वह उपदेश काम का नही । आग को भडका देना कठिन नही है, उसे शान्त कर देना ही कठिन है । कषायो को उत्तेजना मिली कि झगड़ा होते देरी नही लगती । बाद मे उन्हे शान्त करना कठिन होता है । अतएव उपदेश ऐसा होना चाहिए कि—

जहा जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चति, परिनिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करति ।'

सज्जनो ! यह शास्त्र का वाक्य है । इसमें वतलाया गया है कि उपदेश ऐसा होना चाहिए, जिसे सुन कर जीव सिद्धि प्राप्त करे, बुद्ध बन सके, कर्मो से मुक्त हो सके, पूर्ण शान्तिलाभ कर सके और समस्त दु:खो से छुटकारा पा सके ।

था, मैंने देखा कि एक बाई ने पानी के तीन घड़े मस्तक पर रख छोड़े है और दो दोनों बगलो में दबा रक्खे है। फिर भी दूसरी स्त्रियो से बाते करती हुई, ऊबड़खाबड़ रास्ते मे सरपट चाल से चलती जा रही है। उस बहिन को देखने के लिए मैं भी खडा हो गया। एक बूढ़े ने पूछा—बाबाजी, आप क्या देख रहे है? मैने कहा—यह देख रहा हूँ कि इस बहिन का शरीर कैसा सधा हुआ है! इसी प्रकार जो अपने मन को साध लेते है, वे संसार के कृत्य करते हुए भी अपने आत्मिक लक्ष्य से च्युत नहीं होते।

हाँ, तो वे घड़े पानी से परिपूर्ण थे। इसी कारण वह बाई उन्हे बिना छलके ले जा रही थी। खाली होते तो इस प्रकार ले जाना कठिन था। तो जो पूरे होते हैं, बड़े होते हैं, वे बात-बात मे छलकते नहीं है। मगर आज के अधिकांश लोग तो—

लंबे चौड़े गुदगुदे, गुल्लर कैसे गप्पू।
लेन देन को कुछ नहीं बांता कैसे टप्पू॥

आज बातें बनाने वाले बहुत और काम करने वाले थोड़े हैं। किन्तु मनुष्य मे कार्यशीलता और गंभीरता होनी चाहिए। ओछे दिल के लोग ही ज्यादा कूद फांद करते हैं। मर्यादा से बाहर कौन निकलता है? नदी, नाले और तालाब वगैरह मर्यादा से बाहर निकलते है। कभी किसी ने समुद्र को मर्यादा से बाहर होते देखा है? लाखो नदियाँ आकर उसमें प्रवेश करती हैं, मगर समुद्र अपनी मर्यादा नहीं त्यागता। इसी कारण तीर्थंकर भगवन्तों को भी 'सागरवरगंभीरा' कहा गया है।

माताओ ! बहिनो ! भद्र पुरुषो ! संघ का अभ्युदय चाहने वाले कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति इधर-उधर की विक्षोभजनक बातें सुनकर आपे से बाहर नही होते। हाथी अपनी मस्ती मे झूमता हुआ निकलता है तो कोई कुतबुद्दीनजी (कुत्ते), कालिया, भूरिया, धोरिया वगैरह, उसे देख कर दौड़ आते है और भौकने लगते हैं, किन्तु गंभीर पेट वाला वह हाथी आँख उठा कर भी उनकी ओर नही देखता। वह अपनी मंथर गति से चलता रहता है। इसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष कर्मयुद्ध में अग्रसर होते ही जाते हैं। इंच भर भी अपने ध्येय--अटल निश्चय से नही डिगते।

मैंने बम्बई मे चौमासा किया। बाहर जाता तो समुद्र का नजारा दिखाई देता। दो-तीन मंजिल की ऊँचाई तक उसका पानी कूदता था, फिर भी मर्यादा मे रहता था।

बड़े लोग छोटो का मुकाबिला नही करते। हाथी के मस्तक से जब भीनी-भीनी खुशबू वाला मद झरता है तो सौरभप्रेमी भ्रमर अपनी तृप्ति के लिए हाथी के गंडस्थलो के इर्दगिर्द मँडराते है और मस्तक पर नाचते-कूदते है। इतने पर भी हाथी उन पर आक्रमण नही करता, क्योकि वह सोचता है कि इनका और मेरा मुकाबिला ही क्या ! अगर हाथी अपने बड़े-बड़े कानो का एक ही फड़ाका मार दे तो बेचारो की न जाने क्या गति हो ! मगर नहीं, वह समझता है कि मेरी शक्ति इनका मुकाबिला करने के लिए नहीं है।

एक दिन एक गधा जंगल मे पहुँच गया। सामने से एक शेर आ गया। गधा उससे भयभीत नही हुआ और बोला-आओ मेरे साथ कुश्ती लड़ लो। शेर ने गंभीरभाव से कहा—ऐ गर्दभराज

शीतला माता के वाहन ! तुम्हे इस प्रकार बढ़-बढ़ कर बातें करना योग्य नहीं। मगर गधा ढिठाई पर तुला हुआ था। वह शेर की गंभीरता का उपहास करने लगा और कुश्ती के लिए बार-बार ललकारने लगा। शेर ने सोचा—इसकी धृष्टता की सीमा नहीं है। दूसरे जानवर तो मुझे देखते ही भाग जाते है। परन्तु इसकी इतनी हिमाकत कि मुझे चुनौती दे रहा है। कठिन समस्या है। यह कुश्ती मेरी शान के खिलाफ है! इसकी कोई इज्जत नहीं और समझाने पर भी समझता नहीं। गगा, यमुना जैसी नदियो में स्नान करा देने पर भी जो राख मे लोटता फिरता है, उसके साथ मेरा कुश्ती लड़ना अशोभनीय है।

गधा ताव मे आकर बोला—सब को डराना सीखे हो, पर एक बार मुझसे तो लड़ देखो। या लड़ो या हार मानो। शेर ने सोचा—इसने अच्छी बात कह दी और फिर उससे कहा—ठीक है, तुम नगर मे जाकर गली-गली और कूचे-कूचे में घोषणा कर दो कि जंगल का राजा शेर हार गया और मै जीत गया। शेर ने सोचा-जो बुद्धिमान् और विचारशील हैं, वे तथ्य को समझ ही लेंगे। मुझे गवाह पेश करने की आवश्यकता न होगी। मेरा गवाह स्वयं यह गधा ही है और वही मेरे केस की पैरवी कर रहा है।

गधे ने सोचा—चलो, सस्ती विजय मिल गई। बिना लड़े ही शेर ने हार मान ली। यह सोच कर गधा शहर में आया और घोषणा करने लगा कि शेर हार गया और मै जीत गया! बुद्धिमान् लोगो ने गधे की घोषणा सुनते ही सब समझ लिया कि कहाँ शेर और कहाँ गधा! दोनो की तुलना ही क्या!

भद्र पुरुषो ! ब्यावर वालो ! आपकी समझ मे कुछ आया या नहीं ? गधे ने गली-गली में सिंह की बुराई की और सिंह को नीचा दिखाना चाहा, किन्तु काला मुँह तो गधे का ही हुआ। सज्जनो! आपको भी दिमाग मिला है। उस दिमाग से आपको भी सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिए। आप छोटी-छोटी बातो से घबरावे नही। गलत बात का गलत जवाब दे नहीं। कहने वाले कहे जाते है और सुनने वाले सुनते जाते है। किन्तु एक बात मत भूलना और वह यह कि आप सत्पथ पर चलते जाना। सज्जन पुरुष शत्रु द्वारा सावधान करने पर भी सही राह पर आ जाते है। बड़े आदमी कभी ओछेपन का परिचय नहीं देते। मै कह चुका हूँ कि भगवान् महावीर किसी के पूछने पर भिक्षु के रूप मे ही अपना परिचय देते थे। सच है, जिनमे वास्तविक बड़प्पन है, वे अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं करते।

हॉ, तो मै कह रहा था कि जम्बू स्वामी बैठे है और उनकी पत्नियो ने बारी-बारी से खूब हाव-भाव दिखला कर आकर्षित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन पर लेश मात्र भी प्रभाव न पड़ा। तब स्त्रियो ने विचार किया—यो काम चलने का नहीं, सब इकट्ठी होकर एक साथ धावा बोले और वज्र-किले को फतह कर ले। तब आठो ने मिलकर उन्हे रिझाने की कोशिश की। मगर आठ क्या साठ का भी जम्बूकुमार पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं था। जो असर होने वाला था, वह तो हो ही चुका था। इसलिए कवि ने कहा है कि कच्चे रग से वस्त्र रँगने से दूसरे वस्त्र भी खराब हो जाते हैं। मगर जम्बूजी पर कच्चा नहीं, पक्का रंग चढ़ा था। उस पर दूसरा रग चढना असभव था।

आठो रमणियॉ कहती हैं—आपको हमारा कुछ खयाल नहीं है ? आप पाणिग्रहण करके हमे लाये है। पंचो की साक्षी से

लाये हैं। मगर हथलेवा जोड़ कर छिटका रहे है ? तब जम्बूकुमार कहते है—

> आठो आठो क्या करो, मदमातीए ! मोहमातीए,
> आठ करम दुखदाय।
> कामण जो आठो मद सवारी करे, सुणो कामण ए
> आठ का नाम न सुहाय, कामण जो ॥

अरी भद्राओ ! मोह-मत्ताओ ! मोहातुर होकर तुम आठ-आठ क्या कह रही हो ! मुझे तो आठ का नाम ही नहीं सुहाता। यह आठ ही तो दुःखदायी हैं। आठों ही कर्म और आठों ही मद भवभ्रमण के कारण है। इसी प्रकार तुम आठो भी बन्धन का कारण हो। अगर तुम्हारी प्रीति सच्ची है तो तुम भी मेरे साथ हो जाओ। यह संसार की रिश्तेदारी और पति-पत्नी की सगाई एक बार नहीं, अनन्त बार की है।

तात्पर्य यह है कि जम्बूजी पर पूरा असर हो चुका था। उपदेश का पक्का रंग चढ़ चुका था। अब दूसरा रंग चढ़ नहीं सकता था। कहा भी है—

> जहाँ काम वहाँ राम नहीं,
> जहाँ राम नहिं काम।

रात मे दिन और दिन मे रात नहीं रह सकती। अगर रात में दिन रह सकता हो तो राम के साथ काम और काम के साथ राम रह सकता है। अगर यह संभव नहीं है तो वह भी संभव नहीं है।

तो गणि श्री उदयचदजी म० ने जम्बूकुमार का चरित सुना तो हृदय मे वैराग्य आ गया। उनमे सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होने के साथ ही साथ चारित्र का भी प्रादुर्भाव हो गया। यह सब उपदेश की कृपा का फल था। उसी उपदेश के प्रति तुम्हारा उपेक्षाभाव है। कोई नौ बजे आता है तो कोई साढ़े नौ बजे तशरीफ लाता है। तो जैसी नमाज होगी वैसा ही फल मिलेगा। जैसी सुनने की तुम्हारी भावना होगी, वैसा ही फल पाओगे।

सज्जनो ! भगवान् की वाणी के श्रवण करने का अवसर मिलना साधारण बात नही है। इस वाणी को सुनने के लिए स्वर्ग से इन्द्र भी चले आते है। तुम तो पास से आते हो, फिर भी तालियाँ घिसते-घिसते आते हो। यह प्रमाद आपको महँगा पड़ेगा। अतएव प्रभु की वाणी के श्रवण मे आपको लगन और उत्साह होना चाहिए। जिसमे लगन है, उत्साह है और तड़फ है चातक की तरह, वह मर जाना कबूल करता है, किन्तु नदी-सरोवर का पानी नहीं पीता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भले सुने विना रह जायगा, पर सुनेगा तो केवल भगवान् की ही वाणी सुनेगा। भगवद्वाणी के अमृत की एक बूंद पाकर भी वह अपने को निहाल हुआ समझेगा।

मैंने सुना है कि इस नगर मे कुछ समय से नगरपालिका द्वारा चूहे पकडने का काम चल रहा है। उन चूहो को मैसूर वाले सेठ माणकचन्दजी छल्लाणी मेहतरो से ले लेते थे और उन्हे अपने आदमियो द्वारा प्राणरक्षा के लिए जंगल मे भिजवा देते थे। वहाँ भी उनकी तरफ से एक आदमी तैनात था, जो उनकी रक्षा का खयाल रखता था। किन्तु किसी सरकारी अधिकारी ने आज आदेश जारी किया है कि चूहों को जहर देकर मार डाला जाय।

दुनिया के लोगो! इस भूमण्डल पर जिसने जन्म लिया है, उसे जीवित रहने का भी पूरा अधिकार है। अगर प्रकृति को उनका अस्तित्व स्वीकार न होता वे इस धराधाम पर आये ही न होते। जब प्रकृति-कर्म ने उन्हे पृथ्वी पर जन्म दिया है तो जीने का भी उन्हे अधिकार है और जो जिस माता का पुत्र होता है, उसे उसका दूध पीने का भी पूरा अधिकार है। अगर उस बच्चे के हिस्से के दूध को कोई अन्य पी जाता है तो यह जुल्म नहीं तो क्या है? न्याय की दुनिया मे इन बातो पर विचार किया जाता है। इस प्रकार आपको आज भोजन-पान करने से पहले इन मूक प्राणियो की रक्षा का ख्याल करना चाहिए। जो भद्र पुरुप इस विषय मे जितना प्रयत्न कर सकते हो, अवश्य करें। यह एक भयानक पाप है और आपके नगर के लिए बड़ा अभिशाप है। मेरा इस नगर मे चौमासा हो और आप जैसे अहिंसाप्रेमी जन मौजूद हों, फिर भी चूहो की निर्मम हत्या की जाय, यह बड़े खेद की बात है।

भाइयो! ये चूहे आपके चपरासी है और आपको सकट की सूचना देने वाले है। बड़े वफादार जीव है। जब बीमारी होती है तो पहले मरने लगते है। अतएव इन मूक प्राणियों के प्रति आपको दया रखनी चाहिए। ऐसा करने से नगर को यश मिलेगा क्योकि जीवो की रक्षा होगी और अभयदान की प्राप्ति होगी।

राजकोट—चातुर्मास के समय भी इसी प्रकार का एक प्रसंग आ गया था। वहाँ कुत्तो को मारने की आज्ञा जारी हुई थी। इस आज्ञा के विरोध मे धुआंधार व्याख्यान हुए, विज्ञप्तियाँ प्रकाशित हुई और गुजराती तथा अगरेजी भाषा के दैनिक पत्रो ने

डट कर विरोध किया। इस संगठित विरोध का परिणाम यह आया कि उस सरकारी आदेश को रद करना पड़ा।

आप यहाँ उपदेश सुनने आये है सो किस अभिप्राय से? यही सोच कर न कि उपदेश सुनकर कोई अच्छा काम करे। तो फिर पचेन्द्रिय प्राणियो की प्राणरक्षा से बढ़कर शुभ कार्य दूसरा क्या हो सकता है?

सज्जनो! सम्यग्दृष्टि जीव के अन्तःकरण मे सजीव अनुकम्पाभाव विद्यमान रहता है। वह अन्य प्राणियो के सकट को अपने संकट के समान ही अनिष्ट मानता है और उसे दूर करने का भरसक प्रयत्न करता है। अनुकम्पा भाव सम्यक्त्व की ऐसी निशानी है कि इसके अभाव मे सम्यक्त्व की कल्पना भी नही की जा सकती। आप अपने सम्यक्त्व को भी अनुकम्पा के कार्यों द्वारा चमकावे, यही मेरी सूचना है। जो ऐसा करेंगे, उनका इस लोक मे और परलोक मे परम कल्याण होगा।

ब्यावर
८-८-५६




समाप्तम्